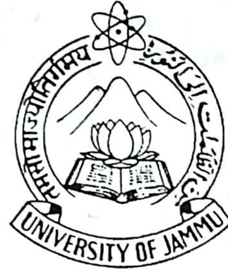
इन्द्रियाँ और देवता

(देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र और ऐतरेयोपनिषद् के आधार पर)

SENSES & GODS

(On the basis of Dehasthadevatāchakrastotra & Aitareyopaniṣad)



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्. उपाधि
प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

:

र सिंह

.फिल्., पी.एच.डी.

रीडर,

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :

रिम्पी जम्वाल

मई, 2002

IInd copy

...manded

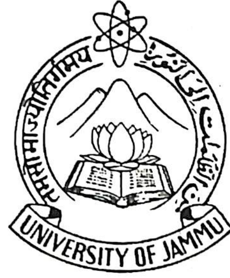
Balak
2/7/5/02

इन्द्रियाँ और देवता

(देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र और ऐतरेयोपनिषद् के आधार पर)

SENSES & GODS

(On the basis of Dehasthadevatãchakrastotra & Aitareyopanișad)



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्. उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ. जगीर सिंह

एम.ए., एम.फिल्., पी.एच.डी.
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :

रिम्पी जम्वाल

मई, 2002

CERTIFICATE

It is to certify that **Miss Rimpy Jamwal** has worked under my supervision and guidance on the topic entitled **"Senses & Gods"** (on the basis of Dehasthadevatachakrastotra and Aitareyopanisad) for the degree of M.Phil. (Sanskrit) University of Jammu.

It is further certified that :–

1. This dissertation is the original research work of the candidate herself.
2. The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by the statute of Jammu University.
3. The topic has been duly approved by the M.Phil. (Sanskrit) committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.
4. The candidate has put her attendance and attended the seminars etc. in the Sanskrit Department under rule.
5. The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research work.

Supervisor :
Dr. Jagir Singh
(Reader)
M.A., M.Phil., Ph.D.
P.G. Deptt. of Sanskrit
Jammu University,
Jammu.

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

महाकवि भवभूति के वचन 'साम्बा पुनातु माम्' – का स्मरण करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् शिव और पार्वती के अमृत (पावन) नाम से पवित्रित साम्बा तहसील के गाँव राजेन्द्रपुरा जम्मू (ज़िला) में जिसका नामकरण बिग्रेडियर राजेन्द्र सिंह के नाम से राजेन्द्रपुरा शोभायमान है। परम पूजनीय पिता जी श्री रूमाल सिंह और माता श्री तृप्ता देवी के घर जन्म लेकर मैं अपने आपको कृत्कृत्या समझती हूँ, क्योंकि वे दोनों बहुत उद्धार, धार्मिक और सनातक संस्कृति के अनुसरण करने वाले हैं। उनके इन संस्कारों का प्रभाव मेरे जीवन पर भी पड़ा। उनकी पवित्र छत्रछाया में मेरा बचपन बहुत ही आनन्दमय वातावरण में व्यतीत हुआ। आठवीं तक की शिक्षा मैंने अपने गाँव राजेन्द्रपुरा में ही प्राप्त की। बाहरवीं की शिक्षा मैंने राया नामक गाँव से प्राप्त की। राजकीय शिक्षा के लिए गाँधीनगर महाविद्यालय में अन्य विषयों के मध्य संस्कृत को चुना।

तदोपरान्त उच्चशिक्षा हेतु जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश किया और अन्य विषयों के मध्य में विशेषकर दर्शन का चयन किया। पिता जी के गुरु महाराज के दर्शन करके दर्शन शास्त्र के प्रति मेरी जिज्ञासा और भी उत्कृष्ट सीमा पर पहुँच गई, क्योंकि उन्हीं के दर्शनमात्र से मेरे सुप्त संस्कार जागे और आत्मा–परमात्मा, बन्ध–मोक्ष और जगत् के विषय में जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। एम.ए. की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मैंने अपने परम आदरनीय निर्देशक **डॉ. जगीर सिंह** के परामर्श और उनके सुझाव और प्रेरणापूर्वक शब्दों से **इन्द्रियाँ और देवता** देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र और ऐतरेयोपनिषद् के आधार पर लघु शोध प्रबन्ध का विषय चयन किया।

इस लघु शोध प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में आचार्य अभिनवगुप्त का जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व और उनकी कृतियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र के वर्ण्य विषय का सार प्रस्तुत है, जिसमें विभिन्न देवियों का मनुष्य शरीर में निवास बताया गया है।

तृतीय अध्याय में उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास उपलब्ध होता है, जिसमें उपनिषद् से तात्पर्य, उपनिषदों की संख्या, उपनिषदों का विषय और महत्त्व पर विचार प्रकट किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय में ऐतरेय उपनिषद् की दार्शनिक सामग्री का वर्णन किया गया है। जिसमें मनुष्य शरीर में परमात्मा और देवताओं का निवास बताया गया है।

पंचम अध्याय के उपसंहार में पूर्वोक्त अध्यायों में वर्णित तथ्यों का विश्लेषण बतलाते हुए वर्तमान समय में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का प्रमुख श्रेय महानुभाव **डॉ. जगीर सिंह जी** को जाता है, जिनके ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा मृदुल व्यवहार से शोधकार्य में आने वाली कठिनाईयाँ दूर हुईं और शोधकार्य में सफलता प्राप्त हुई। इनके प्रति आभार प्रकट करने मात्र से ही मैं ऋण मुक्त नहीं हो सकती हूँ, परन्तु फिर भी औपचारिक रूप में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

इस शोधकार्य की अवधि में अन्य प्राध्यापक और शोधछात्राओं ने जो सम्पूर्ण सहयोग दिया, वह कभी भी नहीं भुलाया जा सकता। इसलिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

विभागीय कार्यालय के कर्मचारी कम्प्यूटर टंकनकर्त्ता **कोहली जे.के. (गैलेक्सी ग्राफिक्स)** का भी धन्यवाद करती हूँ। अपने विभाग के पुस्तकालय के अधिकारी **श्री विजय बडियाल** और **जतिन कुमार** की भी आभारी हूँ, जिन्होंने समय–समय पर पुस्तकें देकर मुझे सहयोग दिया। श्री रघुनाथ पुस्तकालय और विद्यापीठ के कर्मचारी वर्ग का भी आभार प्रकट करती हूँ। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विद्वानों की कृतियों से भी ज्ञान अर्जित किया। उन सभी का पुनः एक बार फिर आभार प्रकट करती हूँ।

अपने माता–पिता, बहिन और भैया के प्रति भी बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे हर प्रकार से सहयोग दिया और मुझे शोधकार्य करने की प्रेरणा दी।

सविनय भगवती माँ से समस्त विश्व के कल्याणार्थ प्रार्थना कर विद्वज्जनों से शोधकार्य की सफलता हेतु आशीर्वाद आकांक्षी,

शोध छात्रा,
रिम्पी जम्वाल
मई, 2002
रिम्पी जम्वाल

संकेत–सूची

1.	ई.उप.	ईशावास्योपनिषद्
2.	ई.प्र.	ईश्वरप्रतिभिाा
3.	ई.प्र.वि.	ईश्वरप्रतिभिज्ञाविमर्शिनी
4.	ई.प्र.वि.वि.	ईश्वरप्रतिभिज्ञाविमर्शिनी वितृति
5.	ऐत.उप.	ऐतरेयोपनिषद्
6.	क.उप.	कठोपनिषद्
7.	क.शै.द.	कश्मीर शैव दर्शन
8.	का.अ.सा.	काव्यालङ्कारसार
9.	का.प्र.चतु.उ.	काव्यप्रकाशचतुर्थ उल्लास
10.	के.उप.	केनोपनिषद्
11.	क्र.स्तो.	क्रमस्तोत्र
12.	का.	कारिका
13.	क्र.स्.	क्रमस्तोत्र
14.	गु.परा.	गुरूनाथ परामर्श
15.	छा.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
16.	तं.आ.वि.	तन्त्रालोक विवेक
17.	तं.सा.	तन्त्रासार
18.	तं.भ.धा.	तन्त्रभट्टधानिका
19.	तै.उप.	तैत्तिरीय उपनिषद्
20.	देह.देव.चक्र.स्तो.	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र
21.	ध्व.आ.	ध्वन्यालोक
22.	ध्व.आ.लो.	ध्वन्यालोकलोचन

23.	प.च.	परमार्थ चर्चा
24.	परा.त्रि.वि.	परात्रिशिंकाविवरण
25.	प्र.भि.हृ.	प्रतिभिज्ञाहृदयम्
26.	प्र.उप.	प्रश्नोपनिषद्
27.	वि.भै.	विज्ञान भैरव
28.	बृ.क.मं.	बृहदकथामंजरी
29.	बो.पं.द.	बोधपंचदशिका
30.	भग.गी.सं.	भगवद्गीतार्थ संग्रह
31.	भग.गी.	भगवद्गीता
32.	भै.स्तो.	भैरव स्तोत्र
33.	मं.	मन्त्र
34.	मा.वि.तं.	मालिनीविजयतन्त्र
35.	मा.वि.वा.	मालीनीविजयवार्तिक
36.	मा.उप.	माण्डूक्योपनिषद्
37.	मु.उप.	मुण्डकोपनिषद्
38.	रह.पं.	रहस्यपंचदशिका
39.	रा.तं.	राजतरंगिणी
40.	श्वेत.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
41.	श्लो.	श्लोक
42.	शि.सू.	शिवसूत्र
43.	स्प.का.	स्पन्दकारिका
44.	त्रि.सा.	त्रिकसार

प्रथम अध्याय

आचार्य अभिनवगुप्त जीवन परिचय, स्थितिकाल एवं रचनाएं

प्रथम अध्याय

आचार्य अभिनवगुप्त जीवन परिचय, स्थितिकाल एवं रचनाएं

कश्मीर शैव दर्शन में अभिनवगुप्त का महत्त्वपूर्ण एवं अद्वितीय स्थान है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर शैव दर्शन को नया अस्तित्व प्रदान किया। इनका निवास स्थान भारत का शिरोमुकुट प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण प्रख्यात कश्मीर प्रदेश था। इस प्राकृतिक वातावरण को पाकर वहाँ अनेक सिद्धों, साधु, संतों, फकीरों ने जन्म लिया और इस पवित्र वसुधा को जो प्राकृतिक रूप से सुन्दर तो थी ही, इन्होंने आध्यात्मिक जल से सींच कर चार चांद लगा दिये इसलिए यह आध्यात्मिक क्षेत्र में उत्तर की काशी कहा जाए तो अतिश्योक्ति न होगी।

आध्यात्मिक ज्ञान के कारण ही इस प्रदेश को प्राचीन काल में "शारदा देश के नाम से पुकारा जाता था। यहाँ के कण–कण में आध्यात्मिक विद्या के स्रोत फूट रहे हैं। यहाँ का शीतल, स्वाभाविक सुन्दर और शान्त वातावरण ही कश्मीर शैव दर्शन के उदय होने का मुख्य कारण रहा है। इसके पुनरुद्धार एवं जीवन के यथार्थ दर्शन की प्रस्तावना के लिए साक्षात् शिव की प्रेरणा एवं अनुग्रह से इस दर्शन के वर्तमान महान् सिद्ध पुरुषों का आविर्भाव हुआ, जिनमें वसुगुप्त सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्तपाद आदि हुये हैं। उन्होंने अद्वैत शैव दर्शन की पारमार्थिक नीति का प्रचार–प्रसार किया है जिसके कारण भावी पीढ़ियां भी कश्मीर शैव दर्शन का चिन्तन–मनन कर आध्यात्मिक अमृत रस का पान कर कृत–कृत्य होती रहेगी।

प्रकरणानुसार हम इस उक्त परम्परा में अवतरित होने वाली आध्यात्मिक–जगत् व मुख्यतः कश्मीर शैवागम की अन्यतम् महान् सिद्ध विभूति श्रीयुत् आचार्य शिरोमणि निगम शिखा निष्णात सकल शास्त्र विशारद श्री भगवती जगजननी के अनन्य भक्त शिरोमणि महामना

अभिनवगुप्तनाथपाद के जीवन व योगदान पर प्रकाश डालेंगे। क्योंकि इनकी प्रतिभा मात्र आध्यात्मिक क्षेत्र में ही दृष्ट नहीं होती, अपितु साहित्य व काव्य के क्षेत्र में भी इनका योगदान अनुपम व अतुलनीय है।

जीवन परिचय

आचार्य अभिनवगुप्त के जीवन परिचय का विस्तृत वर्णन हम उन्हीं की रचित रचना "तन्त्रालोक" से प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने विशेष रूप से अपनी जीवनी पर प्रकाश डाला है।

इस महान् शैवागम की आध्यात्मिक धरोहर "तन्त्रालोक" के अनुसार कश्मीर के तत्कालीन नरेश ललितादित्य अपनी विद्धत्प्रियता के कारण कन्नौज के विद्वान निवासी तथा अभिनवगुप्त के एक महान् पूर्वज अत्रिगुप्त को कश्मीर में ले आए थे।[1]

कल्हण की राजतरङ्गिणी में कन्नौज के राजा यशोवर्मण तथा कश्मीर नरेश ललितादित्य के युद्ध का वर्णन भी चित्रित है, जिसके अनुसार यशोवर्मण की पराजय के बाद ललितादित्य विजयोपहार स्वरूप अमूल्य विद्यारत्न "अत्रिगुप्त" को कश्मीर ले आए थे।[2]

ललितादित्य ने उन्हें भूमि आदि सम्पत्ति प्रदान करके वितस्ता नदी के तट पर ही आश्रय प्रदान किया था।[3]

---

1. अन्तर्वेद्यामत्रिगुपताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्रथजन्मा।
श्रीकाश्मीरंश्चिन्द्रचूड़वतारैर्निसंख्याकैर्पावितोपोन्तभागान्।। (परा.त्रि.वि.पृ. 280)

2. राजाललितादित्यः सार्वभौमस्ततोऽभवत्...... यशोवर्माद्रिवाहिन्याः क्षणात् कुर्वान्विशोषणम...... जितो यथौ यशोवर्मा तद्‌गुणस्तुतिवन्दिताम् अभूदकालिवातीरं गृहप्राङ्नवद्‌वशे। (राज.तं. 41126–145)

3. तस्मिन् कुबेरपरचारुसितांशुमौलिसांमुख्यदर्शन......।
वैतस्तर्रोधसिं...... परिकल्पितभूरिसंपत्।। (तं.आ., 37 / 52)

अत्रिगुप्त की सुदूर वंशावली में वराहगुप्त हुए जिनका पुत्र नरसिंहगुप्त नामक था, वह सकलशास्त्रविशारद के नाम से प्रसिद्ध था, वह लोक में चुखुलक नाम से उसकी प्रसिद्धि थी। वे परम–शिवभक्त थे और उनके पुत्ररत्न स्वरूप ही सर्वज्ञशिरोमणि आचार्य अभिनवगुप्तपाद का जन्म हुआ था।[1] इनकी माता का नाम विमलाकला था। वह एक परम साध्वी तथा शिवभक्त थी। अपने माता–पिता को वे शिवशक्ति स्वरूप में ही पूजित करते थे, तथा स्वयं को भी शिवशक्ति की समन्वयात्मक अनुभूति से ही उत्पन्न कहते हैं।[2] अतएव इन्हें योगिनीभूः भी कहा जाता था।[3] इनके पितृव्य (चाचा) वामनगुप्त थे एक ख्यातिप्राप्त विद्वान थे।[4] जिनके पुत्र क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक व पदमगुप्त थे। ये सभी पुत्र अत्यन्त योग्य सकल शास्त्र निष्णात व परमशिवानुचर थे।[5]

इस प्रकार से अभिनव की शैशव अवस्था एक विद्यावान् कुल व सुखमय वातावरण में ही व्यतीत हुई थी। परन्तु विधाता को सम्भवतः कुछ और ही प्रिय था। अतएव बाल्यावस्था में ही इनकी माता विमलाकला इनको छोड़कर चल बसीं।[6]

वे अभी मातृदुख से उभर ही नहीं पाए थे कि इनके पिता ने भी सहभागिनी के वियोग

---

1. तस्यान्वये महति कोऽपि बराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तका।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा...... तस्यात्मज चुखलकेतिजने...... नरसिंह गुप्तः।। (तं.आ. 37/54–4)

2. विमलाकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पंचमुखगुप्तरुचिर्जनकै
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमथ...... ममसंस्फुरतात्। (तं.सा., श्लोक 01)

3. उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव...... भक्तः। (तं.आ., 1/15)

4. तत्रहास्याभासो यथास्मत्पितृंव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकत्तराणि च रितानि। (अभि.भा.भा., 1/297)

5. अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपदमगुप्ताः।
ये संपदं...... भावयन्तः।। (तं.आ., 37/67)

6. "माता व्ययूयुजदमुं किल बाह्य एव दैवं हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति।" (तं.आ., 36/56)

के कारण यौवनावस्था में ही परमवैराग्यवान् होकर पुत्रमोह का त्याग करके गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया।

इन घटनाओं के कारण इनका हृदय पूर्णरूप से वैराग्यान्वित हो गया तदपि यदा–कदा पूर्व मातृ–पितृस्नेह की स्मृति के कारण इनके हृदय को व्यथित भी होना पड़ता था।[1]

परिणामस्वरूप माता–पिता के वात्सल्य से वंचित होने के कारण इनका जीवन शिवभक्ति व उससे सम्बन्धित आध्यात्मिक शास्त्र चिन्तन अध्ययन में ही व्यतीत होने लगा। शिवतत्त्व के गहन रहस्य की जिज्ञासा इन्हें अनेक गुरूओं का अनुगमन करवाती रही।[2] अभिवनगुप्तानुसार जिस प्रकार भंवरा पुष्प रस व सुगन्धि का इच्छुक होने पर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है, इसी प्रकार ज्ञान के जिज्ञासु साधक शिष्य की एक गुरू से दूसरे गुरू के पास जाना चाहिए।[3] इस प्रकार इनका सम्पूर्ण समय शिवभक्ति में व्यतीत होने लगा तथा इसके अतिरिक्त समय में ही वे शास्त्र रचनादि करते थे।

प्रत्यभिज्ञा व क्रमसिद्धान्त में इन्होंने स्वयं को सोमानन्द, उत्पलदेव व लक्ष्मणगुप्त का शिष्य स्वीकार किया है।[4] व्याकरणशास्त्र का ज्ञान इन्हें अपने प्रसिद्ध वैयाकरणज्ञ पिता से ही प्राप्त हो गया था।[5]

---

1. माता परं बन्धुरिति प्रवादः स्नेहोऽतिगाढ़ीकुरूते हि पाशम्।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्ति।। (तं.आ. 36/57)

2. साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेशभक्त्या स्वयंग्रहणदुर्भदया गृहीतः।
स तत्मंयीभूय केवलं पुनः। तदीय संभोग विवृद्धये पुरा...... गुरूवेशमसं स्वयम् (तदेव – 58.9)

3. आमोदार्थी यथा भृङ्ग पुष्पात् पुष्पान्तरं ब्रजेत। विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरकेर्गुर्वन्तरविवति।
गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुतम्। (तदेव, 22/45–46)

4. "त्रैम्बकप्रसरसागरशीथि सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।।" (त.आ. 37/61)

5. "पित्रा स शब्दगह्ने कृतसंप्रवेशः...... मलपूतचित्तः।।" (तदेव 58)

प्रसिद्ध देवीपीठ जालन्धर पीठ के अधिष्ठाता स्वामी सिद्ध श्री शम्भुनाथ जी, जोकि कौलमत के आचार्य थे, से इन्होंने कौलमत की दीक्षा ज्ञान व सिद्धि भी प्राप्त की थी। अतएव वे उन्हें साक्षात् शिव ही मानते थे।[1] ब्रह्मविद्या की प्राप्ति इन्हें आचार्य भूतिराज से मिली।[2] द्वैतादैत सम्प्रदाय की शिक्षा इन्होंने भूतिराज के पुत्र से प्राप्त की थी।[3] तथा नाट्शास्त्र में यह भट्टतोत के शिष्य थे।[4]

ध्वनि शास्त्र व आमनाथशास्त्र का ज्ञान इन्होंने आचार्य भट्टेन्दुराज से प्राप्त किया था।[5] द्वैत तन्त्र व तन्त्र का ज्ञान इन्होंने क्रमशः वामननाथ व सुमतिनाथ से प्राप्त किया था।[6] अर्धत्रयम्बक शाखा में महारत श्री शम्भूनाथ से प्राप्त किया।[7]

आचार्य अभिनव ने सर्वशास्त्रज्ञ होने के लिए न्याय, मीमांसक बौद्ध, जैन आदि दर्शनों के आचार्यों का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था।[8] तत्त्व जिज्ञासा व सेवा भावना के बल से वे अनेक गुरूओं की सेवा करके तत्त्व गुरू से तत्तविषयक गूढ़ रहस्यों का ज्ञान सहज में ही प्राप्त कर

---

1. श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम्। अभिनवगुप्तछदम्बुजम्। (तदेव, 51)
2. अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यप्रत्ययदायिनी।
   शिव भूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्।। (त.आ. 3, पृ. 194)
3. श्री नाथ संततिमहाम्बर धर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः। (वही)
4. "सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्वार्थम्......
   माहेश्वराभिनवगुप्तपद प्रतिष्ठः...... विशदी करोति।" (अभि.भा., मं श्लोक 4)
5. भट्टेन्दुराजादाम्नाय विविच्य च चिरंधिया।
   कृतोऽभिनवगुप्तेन गीतार्थ संग्रहः (भ.गी.स. 6)
6. आनन्दसंततिमहार्णवकर्णधारः...... वामननाथः। (तं.आ., 37/60)
7. तुर्याख्यासंततीति महोदधिपूर्णचन्द्रसोमतः
   सकलवित्तिकलशशम्भूनाथः (तदेव, 61)
8. अध्मप्यतः एवाधः शास्त्रदृष्टि कुतुहलात्।
   नास्तिकार्हतबोद्धामुपाध्यायानसेविषम्।। (तदेव, 9 पृ 206)

लेते थे। यही कारण रहा कि इनमें अनेक गुरूजनों का आशीर्वाद व सेवा पूर्णरूप से पल्लवित पुष्पित व फलित हुई। परिणामस्वरूप इन्होंने अनुपम व विस्तृत साहित्य की रचना की। उसी प्रकार जिस प्रकार मधुमक्षिकाएं विविध पुष्पों के रसों से एक जीवनामृत पदार्थ "मधु" तैयार करती हैं।

इन रचनाओं में विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञा तन्त्र व साहित्य मुख्य हैं। इसी कारण तत्काल घटित हुई एक सर्वधर्म आचार्य गोष्ठी में इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं प्रकाण्ड विद्वत्ता को मूल्यांकित करके ही इनको सर्वधर्मगुरू की उपाधि प्रदान की गई थी।[1] इनके शिष्यों में सर्वगुणसम्पन्न, योग्य प्रकाण्ड पण्डित व सर्वदर्शनज्ञाता होने का श्रेय क्षेमराज को ही प्राप्त हुआ है। आचार्य क्षेमराज परमशैव व स्वगुरु सम ही गुणवान भी थे। साहित्य व प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनव को अपना गुरू व कवितादाता भी स्वीकारा है।[2] अभिनवगुप्त अपने अनुज मनोरथगुप्त को अनुगृहीत करने हेतु जब परमसत्ता में लीन हुए तो कतिपय जनों ने इनका (क्षेमेन्द्र) शिष्य बनना ही परमसौभाग्य माना। इनके शिष्यों में इनके चचेरे भाई भी थे।[3] इसके अतिरिक्त इनकी भगिनी अम्बा भी इनकी शिष्या थी। वह इन्हें अपना भाई नहीं अपितु

---

1. यो मेलने क्वचन दैशिकयोगिनीनाम, अद्य गुरूक्रमौधः।
त्वय्येव संक्रमित इत्युपलालितोऽभूत्, तस्यै नमोऽभिनवगुप्तपादगुरूतमाय्।। (गु.परा., श्लोक, 7)

2. कतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीवितः श्री राजानकक्षेमराजाचार्यस्या।" (प्र.ह.पृ. 144)

   (क) श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः। आचार्यशिखरमवोर्विद्या विवृत्तिकारिणाः।। (बृह.मं.उप. श्लोक, 37)

   (ख) एनां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकां जपेत् क्षेमेन्द्र स लभते भत्योऽभिनवाभवम् (कवि.क.आ.)

3. अन्दो पितृत्यातनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपदमगुप्ताः।
हृति संपदंभावयन्तः। (तं.आ. 37 / 67)

गुरू भी स्वीकार करती थी तथा शिव समान उनकी आराधना करती थी।[1] मालिनीविजयवार्तिक के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य मन्द्र उनके कष्ट निवारण हेतु अपने नगर प्रवश्पुर में ले गया तथा वहीं पर उनके निवास का भी योग्य प्रबन्ध किया। तब वहां रहते हुए ही उन्होंने मन्द्र व कर्ण की विनती पर "मालिनीविजयवार्तिक" की रचना की।[2]

अभिनवगुप्त के जीवन का मूल उद्देश्य अपने अनुचरों हेतु दुर्लभ विपुल ज्ञानराशि को संचित करना तथा अपनी महान कृतियों द्वारा परमतत्त्व के यथार्थ ज्ञान को प्रकाशित करने हेतु समस्त आगमिक व तन्त्रों के मतों के सार का प्रतिपादन करना था; जिससे शिष्यों प्रशिष्यों को प्रत्येक विषय का ज्ञान सुगमता से प्राप्त हो सके।[3]

मधुराजयोगिन के अनुसार ये "श्रीकण्ठ" के अवतार ही माने जाते थे।[4] क्योंकि अल्पायु में ही रहस्यागमों के भाष्यकार होने का गौरव इन्हें प्राप्त था। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में इन्हें अभिनवगुप्तपादाचार्य की संज्ञा से अभिहित किया है।[5] वामनाचार्य ने काव्य प्रकाश की वालबोधिनी नामक टीका अभिनवगुप्तपाद नाम की परिभाषा करते हुए नवीन रहस्यार्थ को प्रकट किया है कि अभिनवगुप्तपाद नवीन सर्प अर्थात चरण गुप्त रहते हों। इनके गुरू ने इनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही इनका उक्त नाम रखा था।[6]

---

1. अम्बाभिधाना किल सा गुरूं तं स्वभ्रातर शम्भुउदृशभ्यपश्यत्।
भाविप्रभावोज्जवल भव्य बुद्धि...... न बन्धुबुद्धया।। (तं.आ. 37/59)

2. विक्षिप्तभावपरिहारमसौ...... मन्द्र...... स्थितिमस्य चक्रे। प्रवरपुरनाधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिको अभिनवगुप्तः। सञ्छिण्यकर्णमन्द्राभ्याम् चोदितोऽहम (मा.वि.वा.मं. श्लोक)

3. तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता इत्यादि दृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं...... अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शयति। (तं.आ. 11 पृ.24)

4. श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः श्रीकण्ठनाथ एवेति। प्रतिपाद्यतामितरथा...... भवेदित्यम् (गु.परा. श्लोक 23)

5. श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः (का.प्र.च.उ. पृ. 129–135)

6. इदमत्र रहस्यं पुरा किल...... श्री वाग्देवतावतारो (मम्मट) गूढ़ तन्नाम "अभिनवगोपानसी गुपतपाद" इति वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।। (का.प्र.बा. वि.टी., पृ. 95)

भरतमुनि के भरतनाट्यम् में दक्षिण के आचार्यों ने इन्हें शेषावतार की उपाधि से विभूषित किया है।[1]

"शंकरदिग्विज" में माध्वाचार्य ने कामरूप देशनिवासी (वर्तमान आसाम) व वेदान्तसूत्रों में शाक्तभाष्यकार के रूप में अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। जिन्हें शास्त्रार्थ में शंकर ने (788–820 ई.पू.) पराजित किया था।[2] परन्तु निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि यह कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन की महान विभूतियों से अलग होंगे, क्योंकि उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य व अभिनवगुप्त (कश्मीर शैवाचार्य) के समय का बहुत अन्तर है।

अद्वैत कश्मीर शैव दर्शन के आचार्य अभिनवगुप्त की अपने इष्ट शिव में लय होने की रूचिकर कथा प्रचलित है। कश्मीरी कथा के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त अपने 200 शिष्यों के सहित शिवधामगमनबेला में "भैरव कन्दरा" नामक गुफा में, जोकि श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच में अवस्थित है, उस गुफा में प्रवेश होने के बाद वह पुनः कभी भी बाहर नहीं आए। यह गुफा आज भी कश्मीर में "भैरव नदी" व भैरव गांव के पास स्थित है।

इस घटना के अनुसार समाधि के प्रभाव से उनका शिष्य मण्डली सहित ही शिवमय हो जाना सिद्ध होता है, जो अपनी साधना के कारण एक पूर्ण सिद्ध योगी के रूप में जाने जाते थे। कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन का जितना प्रचार–प्रसार इस महान विभूति ने किया, उतना शायद ही किसी ने किया हो।

---

1. (द्र. अभि. भा., पृ. 23)

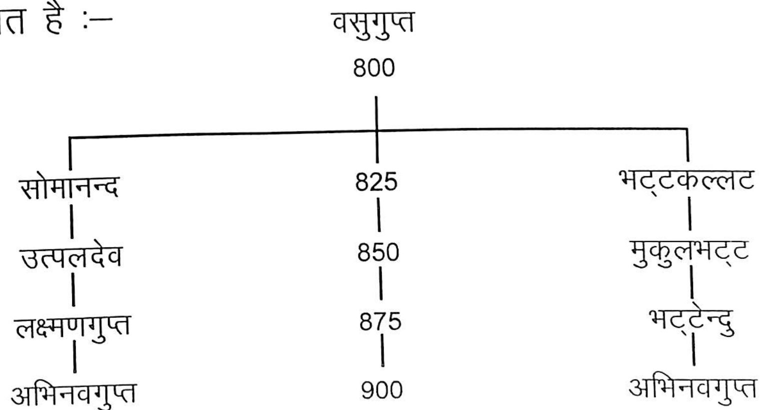
2. तदनन्तरमेव कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाव्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे।। (शां.दि.वि. 15–157)

(क) स्थितिकाल

कश्मीर अद्वैत शैवाचार्यों में आचार्य अभिनवगुप्त की कीर्ति पताका विश्व भर में सर्वत्र फैल रही है। वे केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। यद्यपि इनके स्थितिकाल के विषय में कोई ठोस प्रमाण नहीं उपलब्ध होते, तदपि पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवन काल के बहिसाक्ष्यों तथा इनकी कृतियों के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर इनका स्थितिकाल निश्चित किया जा रहा है।

(ख) बाह्य साक्ष्य

महामाहेश्वराचार्य के गुरू परम्परा में दो गुरू लक्ष्मणगुप्त व भट्टेन्दुराज दो पृथक परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं।[1] भट्टेन्दुराज के गुरू मुकुलभट्ट थे, जिनकी कृपा से ही इन्होंने काव्यालंकारसार की लघु विवृत्ति लिखी।[2] अभिधावृत्तिमातृका के लेखक भट्टमुकुल सिद्ध भट्ट कल्लट के पुत्र थे। अन्य परम्परा में अभिनवगुप्त के गुरू लक्ष्मणगुप्त थे।[3] लक्ष्मणगुप्त के गुरू का नाम उत्पलदेव था और उत्पलदेव के गुरू श्री सोमानन्द था। इस प्रकार प्रस्तुत विवरण की तालिका निम्नलिखित है :—



1. तद्दृष्टिसंसतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपेशिमः।
श्री मल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्वि नयते वचः।। (मा.वि.वा. श्लोक 2)

2. श्रुत्वा सोजन्यसिन्धोर्द्विजवरमकुलात कर्तिवल्यालबालात्।
काव्यालङ्कारसारेलघुविवृतिमधात्...... श्रीन्दुराजः।। (का.अ.सा. श्लो. 86)

3. श्रीशास्त्रकृद्धटित्तलक्ष्मणगुप्तपादसत्योपदर्शितर्शिवाद्वयवाददृप्तः।। (ई.प्र.वि.वि.भा. 3 पृ. 406)

इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होता है कि सोमानन्द और भट्टकल्लट प्रायः समकालीन थे। कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी के अनुसार भट्टकल्लट राजा अवन्तिवर्मण के राज्यकाल में उच्च कोटि के कवि एवं विद्वान के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।[1] अवन्तिवर्मण का शासनकाल 855/6–883/4ई. पू. निश्चित किया गया है। इससे यह विदित होता है कि भट्टकल्लट निश्चय ही अवन्तिवर्मण के राज्यकाल से 25–30 वर्ष पूर्व के होंगे तथा तत्काल समस्त विषयों के ज्ञान की अवस्थाओं को लांघ कर परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुके होंगे। इसी कारणवश वह अवन्तिवर्मण के साम्राज्य काल में वे परम प्रसिद्ध हो चुके होंगे। इन तथ्य कथनों के आधार पर भट्टकल्लट का स्थितिकाल 825 ई. 925 ई. के लगभग प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा के अनुरूप गुरू शिष्य परम्परा में कम से कम 25 वर्ष का अन्तर मानने से अभिनवगुप्त का काल का प्रारम्भ 900 ई.पू. के लगभग माना जा सकता है।

अन्तः साक्ष्य

अभिनवगुप्त की कृतियों में प्राप्त काल निर्देशानुसार निम्न प्रकार से अनुमान किया जा सकता है –

(क) अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी में इसका रचना काल अन्त्य युगांश/कलियुग सम्वत्सर, तिथि, राशि, जलधि के संकेत से ज्योतिषीय परम्परानुसार दिया गया है।[2] जो नियमानुसार 4115 बनता है।[3] इसके साथ ही निःसंदेह रूप में तत्कालीन लौकिक सम्वत्सर भी 90 वपिति है। यह लौकिक

---

1. अनुग्रहाय लोकानां भट्टकल्लटादयः। अवन्तिषर्मणः काले सिद्धाः भुवमवतारन्।। (राज.त. श्लो. 66)
2. इति नवतितमेऽस्मिन्वतसरेटन्त्ये युगांशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने। (ई.प्र.वि. 4/4 पृ. 204)
3. अङ्कानां वामतो भति – तिथि राशि जलधि। (1514 = 4115)

सम्वत् कश्मीर का प्रसिद्ध सप्तर्षि सम्वत्सर ही है। सम्वत्सर विशेषज्ञों के अनुसार सप्तर्षि सम्वत्सर कलिसंवत् के 25 वर्ष पश्चात् आरम्भ हुआ था। अतः उपर्युक्त नियमों के अनुसार उस समय –

सप्तर्षि संवत् = कलिसंवत् – 25

4115 – 25 = 4090 बनता है।

इससे ज्ञात होता है कि सप्तर्षि सम्वत् 4090 को ही आचार्य ने संक्षिप्त रूप से 90 लिखा है।

विक्रमी संवत् = कलिसंवत् – 3044

= 4115 – 3044 = 1071 विक्रमी संवत्।

इस प्रकार विक्रमी संवत् से 57 कम करने पर ई. संवत् बनता है।

ईस्वी सं. = 1071 – 57 = 1014 ई.

(ख) क्रम स्तोत्र की रचना का समय माघशीर्ष मास की कृष्णपक्ष की नवमी तिथि व सप्तर्षि सम्वत्सर 66 दिया है जो ज्योतिष शास्त्रानुसार निम्न प्रकार का होगा –

ई. संवत् = सप्तर्षि संवत् – 3076

= 4066 – 3076 = 990 बनता है।[1]

(ग) इसी प्रकार भैरव स्तोत्र के अन्त में इसका रचनाकाल पोषमास की कृष्णपक्ष की दसवीं तिथि व सप्तर्षि सम्वत्सर वसु, रस, सांकेतिक रूप से दिया गया है।[2] जो

---

1. षटषष्टिनामके वषे नवम्यामसितेऽहनि। म्यानिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः।। (क्र. स्तो. श्लो. 30)
2. वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्त स्तवमिममकरोत्। (भै.स्तो. श्लो. 10)

गणना करने 68 बनता है। अतः उक्त नियमानुसार –

ईस्वी संवत् = सप्तर्षि संवत् – 3076

= 4068 – 3076 = 992 बनता है।

(घ) अभिनवगुप्त ने परात्रिंशिका के विवरण में उल्लिखित किया है, कि इसकी रचना उन्होंने अपने लघुभ्राता मनोरथगुप्त (कर्ण) कश्मीर के तत्कालीन राजा यशस्कर के प्रधान अमात्य के पुत्र व एक सज्जन रामदेव – इन तीनों शिष्यों की विनती की थी।[1]

राजा यशस्कर के राज्यकाल की स्थिति ई.पू. 939–948 निश्चित है। अतः इस समय के मध्य में ही अभिनवगुप्त ने इसकी रचना की होगी।

अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ज्ञात हुआ कि अभिनवगुप्त ने "परात्रिंशिकाविवरण ई. पू. 939–948 के मध्य ही लिखी होगी। क्योंकि यह उनकी स्पष्टतया प्रथम कृति नहीं है। अतः उन्होंने इसके पूर्व भी कतिपय रचनाएं की होंगी। इस प्रकार से अधिकाधिक 8–10 वर्ष और कम मान लेने पर ई.पू. 930 के लगभग ही उन्होंने लेखन कार्य आरम्भ किया होगा यह प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका अविर्भाव काल संभवत ई.पू. 900 के लगभग रहा होगा।

विद्वानों के अनुसार उनके द्वारा 44 कृतियों की रचना की गई ऐसा माना जाता है। अतः परात्रिंशिका व क्रमस्तोत्र के रचनाकाल के मध्य में भी उन्होंने अनेक कृतियां लिखी होंगी।

1. कश्मीरेषु यशस्करस्य नृपतेरासदिमात्याग्रणी प्राग्रयज्ञन्माद्विजः।
......भ्राता ममैव मनोरथगुप्तबामा। ......रामदेवाभिधानश्च...... प्ररूढ़हृदयेन यन्मया रचितम्।
शिवाप्रत्ये भूयात्।। (परा.त्रि.वि. पृ. 279, 290)

अभिनवगुप्त के कथनानुसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी उनकी अन्तिम कृति थी, जिसकी रचना 1014 ई.पू. की गई। अतः यदि एक दो वर्ष तक और भी शरीर धारण कर रखा होगा, उनका लगभग ई.पू. 1046 का समय परमशिवधाम गमनकाल माना जा सकता है। अतः उनका स्थितिकाल ई.प. 900 से ई.पू. 1015 के लगभग माना जाना ही तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।

(ग) कृतियां

आचार्य अभिनवगुप्त एक सिद्ध पुरुष ही नहीं, अपितु एक परमकोटि के लेखक भी थे। विभिन्न ज्ञान की शाखाओं के अनुशीलन व अनेक गुरूजनों की सेवा के बल से तथा अपने पुरुषार्थ के द्वारा किस प्रकार उन्होंने अपार ज्ञानमय परमशिव की अनुभूति हुई थी, उस अपार ज्ञानरूपी शिखा को प्रज्जवलित करने के लिए व अपने शिष्यों को सकलशास्त्र विशारद बनाने के लिए उन्होंने अपनी अनुभूति को लेखनीबद्ध किया था। आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शन, तन्त्र व काव्यपरक अनेक रचनाएं लिखी थीं परन्तु उनमें से कतिपय कृतियां ही उपलब्ध होती हैं व अन्य कृतियों की जानकारी केवल अनुमानिक रूप से सन्दर्भों के द्वारा ही होती है। उनकी कृतियों का संक्षिप्त विवरण तान्त्रिक, साहित्यिक, आगमिक, दार्शनिक और स्तोत्रात्मक साहित्य के रूप में इस प्रकार है –

(क) तान्त्रिक कृतियां

मालिनी विजयोत्तरवार्तिक, परात्रिंशिकाविवरण अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी।

(ख) साहित्यिक कृतियां

ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवभारती, घटकर्परकुलकर्विवति काव्यकौतुकविवरणं।

(ग) **दार्शनिक कृतियां**

तन्त्रालोक, तन्त्रासार, तन्त्रवटधानिका, भगवद्गीतार्थसंग्रह परमार्थसार, ईश्वरप्रतत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञार्विवतिविमर्शिनी परमार्थद्वादशिका, अनुत्तराष्टिका, तन्त्रोच्चय, तत्त्वाध्वप्रकाशिका, बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद।

बोध पंचदशिका, शिवदृष्ट्यालोचन, लाध्वी प्रक्रिया, पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, प्रकीर्णिक विवरण, भेदभाव विदारण, कथामुखतिलक।

(घ) **स्तोत्रात्मक कृतियां**

परमार्थचर्चा, रहस्यपंचदशिका, क्रमकेलि, पूर्वपंचिका स्तोत्र, प्रकरण विवरण, देवीस्तोत्रविवरण, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, क्रमस्तोत्र, शिवशक्त्यविनाभाव स्तोत्र, भैरवस्तवः, पूर्वपंचिका स्तोत्र, अनुभवनिवेदन।

(क) **तान्त्रिक कृतियां**

1. **मालिनीविजयोत्तरवार्तिक**

यह वार्तिक मालिनी विजयतन्त्र पर आधारित है। इस ग्रंथ का अन्य लोकप्रिय नाम मालिनीविजयोत्तरतन्त्र अथवा श्री पूर्व शास्त्र भी है। इस कृति में कठिन श्लोकों की सरलतम व्याख्या की गई है। मालिनीविजय एक आगम या तन्त्रशास्त्र है, जिसमें भैरव और भैरवी के संवाद रूप में सिद्धयोगीश्वरतन्त्र को सार रूप में निबद्ध किया गया है। इस वार्तिक में अभिनवगुप्त ने तन्त्रशास्त्र के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त सरल सुबोध शब्दावली में प्रतिपादित करके अपना इस कार्य में अद्वितीय योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त परावाक् अथवा परा को

पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूप में विकास, परमशिव के स्वरूप, उसकी शक्तियां, बन्ध–मोक्ष तथा उसके उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है।

2. परात्रिंशिकाविवरण

परात्रिंशिका कश्मीर शैव दर्शन से सम्बन्धित एक प्रामाणिक एवं अति प्राचीन ग्रंथ है, इसका मूल उद्गम 'रूद्रयामल' तन्त्र है। परात्रिंशिका का दूसरा नाम –अनुत्तरीय सूत्र' भी है। यह संग्रह पश्यन्ती भूमिका में उतर कर अपने ही बर्हिमुखीन शाक्तप्रसर का रहस्य समझने की इच्छा से शिष्य के रूप में प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने वाले उत्तरदाता परभैरव का भैरवी के साथ पारस्परिक संवाद है। अभिनवगुप्त ने इस कृति की रचना को केवल अपने प्रिय शिष्यों भन्द्र, कर्ण, रामदेव और अनुज मनोरथगुप्त के विनम्र आग्रह को स्वीकारने पर किया।[1] इस शास्त्र का सम्बन्ध कौलमत से है।

3. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी

सम्भवतयः यह उनकी अनुत्तर (परमतत्त्व) से सम्बन्धित लिखी गई रचना अनुत्तरतत्त्व पर स्वयं ही लिखी गई विमर्शिनी भी है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह रचना कौल दर्शन द्वारा मान्य अनुत्तर तत्त्व (परमसत्ता) विषयक प्रतीत होती है।

---

1. "कश्मीरेषु यशस्करस्य नृपतेरासीदमात्याग्रणीः श्रीमानवल्लभः......।
श्री शौरिः शिशुचन्द्रचूड़चरणध्यानैकरत्नाकरः......।।
शङ्करध्यानाचार्यपरिचिन्तनैकरसिकः कर्णाभिधानोद्विजः। भ्राता ममैव...... मनोरथगुप्तनामा।
शिवशास्त्रैकरसिकः पदवाक्ये प्रमाणवित्। रामदेवाभिधानश्च भूषितोत्तमजन्मकः।
एतत्प्रियहितकरण प्ररूढ़हृदयेन यन्मयारचितम्। मार्गप्रदर्शनं तत्सर्वस्य शिवाप्तये भूयात्।।"
(परा.त्रिं.वि., पृ. 279, 280)

(ख) साहित्यिक कृतियां

1. ध्वन्यालोकलोचन

ध्वनिशास्त्र के रचयिता आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन नाम की टीका लिखी है, जो केवल लोचन नाम से भी विख्यात है। यद्यपि यह कृति एक भाष्य रचना है। फिर भी अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि के विषय में अत्यधिक प्रशंसनीय मौलिक योगदान दिया है। अभिनवगुप्त ने इसका महत्त्व दर्शाते हुए कहा है कि नेत्रविहीन को चन्द्रज्योति से क्या प्रयोजन ठीक उसी प्रकार यह भाष्य भी शास्त्रबोध हेतु चक्षु का कार्य करती है। नवीन तथ्यों को प्रकाशित करने में सहायता प्रदान करती है।[1]

2. अभिनवभारती

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती संज्ञक टीका लिखी है। यह नाट्यवेदविवृत्ति के रूप में जानी जाती है। इसमें नाट्यकला विषयक सिद्धान्तों को बड़े मनोहर ढंग से प्रतिपादित किया गया है। इस विवृत्ति की रचना में इनका मुख्य उद्देश्य भरतमुनि के रसपरक सिद्धान्त को सुनियोजित करना ही था। इसमें इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के कथनों का खण्डन के साथ–साथ दूसरों के न्याय संगत मतों का समर्थन भी किया है। नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित तथ्यों को समझने के लिए यह महत्त्वपूर्ण कृति है।

3. घटकर्परकुलविवृति

अभिनवगुप्त के कथनानुसार इसकी रचना महाकवि कालिदास ने की।[2] इसमें चित्रकाव्य और ध्वनि काव्य को सुन्दर रूप में संजोया गया है। प्रत्येक दृष्टि से दोषरहित यमक से

---

1. "किंललोचनं विनालोको भातिचन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तेत्रलोचनोन्मीलनं व्यधात्।।" (ध्व.आ.लो., पृ. 233)
2. किंच अत्रकर्ता महाकविकालिदास इति अनुश्रुमस्माभिः न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि
कलङ्कपात्रमुत्प्रेक्षितबन्ता मनोरथेऽपि सुप्तेऽपि सहृदयः।" (घ.क.वि., श्लो. 20)

सुव्यवस्थित यह ललित काव्य कालिदास की अपूर्व कृति है। अभिनवगुप्त के अनुसार उन्होंने कवीन्द्र एवं परम विद्वान गुरू इन्दुराज की प्रेरणा से इस काव्य पर विवृति लिखी है।[1]

4. काव्यकौतुकविवरण

यह विवरण इन्होंने अपने गुरू भट्टतोत की काव्य शास्त्रीय रचना काव्यकौतुक पर लिखा है। इसके विषय के सम्बन्ध में परिचय ध्वन्यालोकलोचन में दिये गये अवतरण से मिलती है।[2]

(ग) दार्शनिक कृतियाँ

1. तन्त्रालोक

यह कृति सर्वाधिक सुप्रसिद्ध और विश्वकोष के समान कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के तात्त्विक मूल्यों एवं सिद्धान्तों का अति विस्तार रूप से निरूपण करती है। इसमें प्रमुख रूप से परमसत्ता का स्वरूप, छत्तीस तत्त्व, बन्ध–मोक्ष शाम्भवादि उपायों के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा, क्रम एवं कौल मतों के विषय में भी विचार किया गया है। इसमें 37 आह्निक है। कश्मीर शैव दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्यों एवं उपजीव्य शैवागमों की परम्परा का भी स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है।

2. तन्त्रसार

तन्त्रालोक उनकी प्रौढ़ एवं विशद कृतियों में से अन्यतम् है, जो जनसाधारण को समझने में क्लिष्ट एवं दुरुह है। साधारण बुद्धि वाला मनुष्य उसके तत्त्वार्थ को समझने के लिए असमर्थ

---

1. "कवीन्द्रोरिन्दुराजस्य ते सच्चित्विकासकाः।
बोधोशावो विगाहन्ता भूर्भुवः स्वर्स्रयीमपि।।" (तदैव)

2. "स चायम् अस्मदुपाध्याय भट्टतोतेनकाव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बृहतकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः इति अलम् वदना। (ध्व.लो.श्लो.)

रहता है। अतः इसके मुख्य सार को स्पष्ट एवं ज्ञात करने हेतु इसको तन्त्रसार के रूप में सरल शब्दावली में पिरोया है।[1] इस रचना का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण की भावना है। इसमें मात्र 22 आह्निक है।

3. तन्त्रवटधानिका

अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार के भी साररूप का उल्लेख करने वाली रचना का नाम 'तन्त्रवटधानिका' रखा है। इसकी विषय सामग्री थी तन्त्रालोक में संकलित विषय के समान है, लेकिन इसमें संक्षिप्त रूप से विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसमें मात्र तीन आह्निक हैं, जिनके श्लोकों को अनुष्टुप छन्द के रूप में सुनियोजित किया गया है।[2] तन्त्रवटधानिका तन्त्रालोक नामक महान् वह वृक्ष का बीज रूप है।

4. भगवद्गीतार्थसंग्रह

यह रचना आगम शास्त्र के अन्तर्निहित रखी गई है। गीता के उपदेशों को शैवी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसमें गीता को विशाल रूप में प्रस्तुत न करके संक्षिप्त रूप से विवेचन किया गया है। शैवाचार्यों ने श्रीकृष्ण को गुरू की उपाधि से विभूषित किया है। इस दर्शन के अध्ययन से गीता और त्रिक् दोनों के सिद्धान्तों का ज्ञान होता है।

5. परमार्थसार एवं परमार्थसारसंग्रह

इस रचना में त्रिक् दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। परमार्थसार सारगर्भित पक्षपातरहित, ज्ञान से पूर्ण कुल 100 कारिकाओं में ग्रंथित छोटा सा ग्रंथ

---

1. "विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसार ततः श्रुणत।।" (त.सा., भा. 2 पृ. 2)

2. "एषाभिनवगुप्तेन रचिता तन्त्रवटधानिका।
हृदयूमौचस्य रूढ़ः स शिवकल्पमहीरूहः।। (त.व.ध., भा. 3, श्लो. 43)

है। परमार्थसार के अतिरिक्त परमार्थसारसंग्रह नामक रचना भी अभिनवगुप्त की कृति मानी जाती है। क्योंकि प्रकाशित कृति में अभिनवगुप्त ने परमार्थसार शब्द का ही प्रयोग किया है[1] इसकी विवृति को योगराज ने परमार्थसारसंग्रह से अभिधानित किया है।[2]

6. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

श्री उत्पलदेव द्वारा विरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ का कश्मीर प्रत्यभिज्ञादर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर लिखित अभिनवगुप्त द्वारा विमर्शिनी नामक टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की सूत्रात्मक कारिकाओं को समझने के लिए कुंजिका है। ज्ञान शक्ति का स्वरूप, पदार्थों की प्रकाशत्मक, परम शिव का स्वातन्त्र्य, अपोहनशक्ति का स्वरूप, क्रिया शक्ति का प्राधान्य, 36 तत्त्वों का इसमें विशद विवेचन है।

7. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

ईश्वरप्रतिभिज्ञावृति एवं विवृति पर की गई विशद व्याख्या को ही विवृतिविमर्शिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यह वृहत् विमर्शिनी नाम से भी जानी जाती है, क्योंकि इसमें 1800 श्लोकों के समान शब्दों में प्रतिभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार प्रतिभिज्ञाशास्त्र का ज्ञान उनके गुरू द्वारा प्रकाशित किया गया था, उनकी प्रेरणा से इन्होंने इस पर टीकायें लिखी हैं।[3]

---

1. इति श्रीमहामहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः परमार्थ सारः (प. सा.)
2. सम्पूर्णयम् परमार्थसारसङ्ग्रहविवृतिः कृतिश्च तत्र भवत परममाहेश्वर श्रीराजानक योगराजस्य (प. सा. वि. 19)
3. "श्री मल्लक्ष्मणगुप्तप्रदर्शितपथः श्रीप्रत्यभिज्ञाबिधौ।
   टीकार्य प्रविमर्शिनी रचयते वृतिं प्रशिष्योगुरोः।।"

8. पर्यन्तपंचाशिका

अभिनवगुप्त की इस कृति की विशेषता एवं महानता को दर्शाते हुए उनके शिष्य मधुराजयोगिन ने अपनी रचना गुरूनाथ परामर्श में लिखा है, करुणास्वरूप, तेजस्वी एवं महानगुरू अभिनवगुप्त ने जन साधारण को अद्वैत मत में प्रेरित करने के लिए परम सम्पदा को उत्पन्न करने वाले कल्पतरू की लीला रूप पंचाशिका को सृजित किया गया था।[1] इसके 53 श्लोक हैं जो अनुष्टुप छन्द में लिखे हैं, इसमें शैव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त षडाध्वा, सात प्रमाता, दश इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त भैरव की परा अवस्था का जिसमें इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियाँ समान रूप में निवास करती हैं।

9. परमार्थद्वादशिका

इस कृति में अभिनवगुप्त ने परमसत्ता को थोड़े शब्दों में ही रोचक एवं मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

10. अनुत्तराष्टिका

अनुत्तराष्टिका कृति भी लघु रचनाओं में से एक है। यहां पर अनुत्तर शब्द का प्रयोग परमसत्ता का रूपक है, जो जगत से अभिन्न है। इसमें महेश्वर के सिद्धान्तों का संक्षेप रूप में उजागर किया गया है।

11. तन्त्रोच्चय

यह रचना तन्त्रालोक पर लिखा वार्तिक है। तन्त्रालोक पर अवलम्बित यह रचना तन्त्रालोक की अपेक्षा लघुकाय है, परन्तु तन्त्रवटधानिका से कश्चित बृहद् है।

---

1. "पर्यन्तसपदुणपादनकल्पवल्लीपंचाशिका परमकारूणिकेनयेन।
प्रोक्तानिजाद्वयनये जनतां नियोक्तुं तस्मै नमोऽभिनवगुप्त गुरूत्तमाय।।" (गु.परा. श्लो. 8)

12. **तत्त्वाध्वप्रकाशिका**

इस कृति का पता जयरथ के तन्त्रालोक पर लिखे गये भाष्य (विवेक) से चलता है। यह रचना भी लुप्त कृतियों की श्रेणी में आती है इस कृति का विषय 'तत्त्वाध्वा' को प्रदर्शित करना है।[1]

13. **बिम्ब प्रतिबिम्बवाद**

तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक के रूपान्तरित बिम्ब प्रतिबिम्बवाद को शैव दृष्टि से निरूपण किया गया हे।

14. **बोधपंचदशिका**

इस कृति में अद्वैत शैव दर्शन को बोध में सार है। इस रचना में 15 श्लोकों में अद्वैत शैव दर्शन के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसमें अल्पबुद्धि वाले शिष्यों को अद्वैत शैव दर्शन के सिद्धान्तों के सार को भली–भांति परिचित कराना चाहते थे।[2] परमशिव के चिन्नमय रूप में दर्शाते हुए कहा है कि इस ज्ञान के परिच्छिन्न रूप को ही जड़ कहते हैं।[3] तात्पर्य यह है कि वेदान्तवादी जो अज्ञान को ज्ञान का अभाव रूप मानते हैं, इसके विपरीत इन्होंने अज्ञान को ज्ञान का सीमित रूप माना न कि अभाव रूप।

15. **शिवदृष्टयालोचन**

यह रचना भी अभिनवगुप्त की लुप्त कृतियों में से एक है। यह सोमानन्द की 'शिवदृष्टि'

---

1. "ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वाप्रकाशनादौ तत्र–तत्र तन्मतावलम्बनमेव कृतम्।।" (तं.आ.भा. 12, पृ. 19)
2. "सुकुमारमतीन शिष्यान् प्रवोधयितुमंजसा।
   इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पंचदशोदिताः।।" (बो.प.द. श्लो. 15)
3. "परिच्छिननप्रकाशत्वं जड़स्य किललक्षणम्।
   जड़ादिलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते।।" (तदेव श्लो. 8)

पर रचित भाष्य है। इसका प्रमाण परात्रिंशिका विवरण में दिये गये उद्धरण से प्राप्त होता है।[1]

16. लाध्वी प्रक्रिया

यह कृति स्तोत्ररूप में लिखित है। इसके दार्शनिक तथ्यों को शैवी दृष्टिकोण से सुन्दर रूप में प्रति किया गया है। इसके विषय में ज्ञान हमें उद्धरण से मिलता है।[2]

17. पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका

इसके विषय में भी ज्ञान हमें उद्धरण से ही प्राप्त होता है। इसमें अनुसन्धान, स्मृति, अनुभव आदि पदार्थों एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों का सर्वांगीण विश्लेषण किया गया प्रतीत होता है।[3]

18. भेदभाव विदारण

यह रचना अनुपलब्ध है, इसका बोध भी उद्धरण से ही होता है। इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि रचना का मूल उद्देश्य द्वैतभाव का खण्डन कर अद्वैतभाव की स्थापना करना है।[4]

19. प्रकीर्णिक विवरण

इसकी गणना भी लुप्त कृतियों में की गई है। जिसका बोध भी उद्धरण से होता है। सम्भव है यह रचना व्याकरण दर्शन से सम्बन्धित रही होगी।

---

1. "यत्रोक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने...... प्रंषोऽपि स भवेद्यस्य सक्तता नाम विद्यते।।" (परा.त्रि.वि., पृ. 116)
2. "यथाचमयैवलध्व्यां प्रक्रियाथामुक्तम् नं योग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्तवत्तो विभाव्यते। एष एवहि भोगे यत्तादात्म्यं भोक्तृभोग योः।।" (भ.गी.स. श्लो. 28)
3. "अनुसन्धायाः स्मृतिभेदे तस्याश्चानुभवोपजीवित्वे अनुभवाभावात् मयैतद्विचरितं पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्।।" (परा.त्रिं.वि. पृ. 162)
4. "मयैव भेदवादविदारणे निर्णीतः। (ई.प्र.वि. पृ. 158)
देवीस्तोत्रविवरणे निर्णाति।" (भ.गी.स. 6/30)

20. कथामुखतिलक

यह कृति भी अप्राप्य है यह बात उद्धरण से ज्ञात होती है। सम्भवतया इसका विषय षोडष पदार्थों के निरूपण से शैवमत का प्रस्थापन रहा है।[1]

(घ) स्तोत्रात्मक कृतियां

1. परमार्थचर्चा

यह रचना 8 श्लोकों में निबद्ध है। इसमें परमार्थ अथवा आत्म ईश्वर की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। वह परमशिव सम्पूर्ण लोक में ज्योतिमय रूप में आभासित हो रहा है। उससे अलग किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं उनकी निज शक्तियों के कारण ही ग्राह्य—ग्राहक रूप में अनेकत्व अवभासित होता है।[2]

2. रहस्यपंचदशिका

इस रहस्यात्मक रचना में अभिनवगुप्त ने भगवती संविदरूपा सरस्वती की स्तुति के रूप में शैव सिद्धान्त के रहस्यों को मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त समस्त वर्णों को परामातृका के अंग विशेष के रूप में प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार साधक की इस प्रकार समस्त विश्व के प्रति अभेद्य बुद्धि जाग्रत होने पर वह जीवनमुक्त ही हो जाता है इसमें मात्र 15 श्लोक हैं।[3]

---

1. "ग्रन्थः कथामुखमहातिलकाभिधानः न्यायोक्त षोडशपदार्थ निरूपणाभिः।
   यो वादिनां व्यरचयद्विजयायवादे तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय।" (गु.परा. श्लो. 9)
2. "इत्यं स्वगंविद्वन एक एवं शिवः रूप विश्वस्य परः प्रकाशः।
   तत्रापि भाव्येत विचित्रशक्तौ ग्राहृगृहीतप्रविभागभेदः।।" (पं.च. श्लो. 3)
3. "पूर्वसिद्धान्त गुरुन देवान् देवी नत्वाथ योगिनः।
   इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पंचदशोदिता।।" (रह.पं. श्लो. 37)

3. **क्रमकेलि**

क्रमस्तोत्र पर जो भाष्य लिखा है वह ही क्रमकेलि नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त की लुप्त हुई कृतियों में से एक है। इसका परिचय परात्रिंशिका विवरण में दिये गये उद्धरण से मिलता है।[1]

4. **पूर्वपंचिका स्तोत्र**

यह कृति अभिनवगुप्त द्वारा रचित है, परन्तु वर्तमान समय में अनुपलब्ध है। यह श्रीपूर्वशास्त्र पर अधिकाधिक एवं वृह्द वार्तिक थी, यह हमें मालिनीविजयवार्तिक के उद्धरण से विदित होता है। इस ग्रंथ का विशेष सम्बन्ध त्रिक् सम्प्रदाय से है यह त्रिक् शास्त्र पर एक प्रामाणिक रचना रही होगी।

5. **प्रकरण विवरण**

अभिनवगुप्त की यह कृति स्तोत्रात्मक है। यह प्रकरण स्तोत्र पर लिखा गया विवरण है। इसका पता हमें इनके ग्रंथ तन्त्रसार के उद्धरण से चलता है।[2]

6. **देवीस्तोत्रविवरण**

यह आनन्दवर्धन विरचित देवस्तोत्र पर अद्वैत शैवी दृष्टिकोण से लिखा गया विवरण है। इसका पता भी इनकी रचना भगवद्गीतार्थ संग्रह से पता चलता है।[3]

---

1. उक्तं च क्रमस्तोत्रे —
"वपुर्महाग्रास विलाससक्तं संकर्षयन्तीं प्रणमामिकालीम् व्याख्यातं चैतन्मया टीकायां क्रमकेलौ विस्तरतः।।"
(परा.त्रिं.वि., पृ. 236)
2. "एषः च अर्थः तत्र तत्र मद्विरचिते विवरणे प्रकरणस्तोत्रादौ वितव्यः वीक्ष्यः।" (तं.सा. पृ. 31)
3. "देवीस्तोत्रविवरणे निर्णाति।" (भ.गी.सं. 6/30)

7. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र

अभिनवगुप्त की यह 15 श्लोकों पर आधारित लघु कृति है लेकिन इस छोटे से ग्रंथ में आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य भरा पड़ा है। इन्होंने अण्ड (शरीर) में ब्राह्मण्ड (समस्त प्रपंच) का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। शरीर के विभिन्न अंगों में भिन्न–भिन्न देवताओं का निवास स्थल बताया गया है। इसके पश्चात आत्मतत्त्व को सुन्दर ढंग से आलोकित किया गया है। अतः इस स्तोत्र के माध्यम से शैव दर्शन के दृष्टिकोण से इसका सार प्रदर्शित किया गया है।

8. क्रमस्तोत्र

इस स्तोत्र में भगवान शिव की आराधना के साथ इसके रचनाकाल का सप्रमाण उल्लेख मिलता है। यह कृति 20 श्लोकों में निबद्ध है, जिसमें आत्म ईश्वर स्वरूप पशुपति की प्रशंसा के साथ उनकी शक्तियों के ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है।[1] वह परमशिव अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों में विस्तार करते हुए जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार क्रम को चलाते हुए स्वयं अक्रम रूप में रहते हैं। इस स्तोत्र में शिव की शक्तियों का अति विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

9. शिवशक्त्याविनाभावस्तोत्र

यह कृति स्तोत्ररूप में दार्शनिक रचना है। इसको लिपिबद्ध करने का प्रमुख उद्देश्य शिव और शक्ति के अपृथक्भाव एवं सामरस्य का प्रतिपादन करना है। इसका उद्धरण हमें भगवद्गीतार्थसंग्रह में उपलब्ध होता है।

---

1. "मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः।
इति च अभिनवगुप्तपादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं सम्पूर्णम्।" (क्र.स्तो., श्लो. 30)

10. **भैरवस्तवः**

यह कृति स्तुतिपरक रचना है। जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाले आत्मपरमेश्वर की इसमें स्तुति हुई है।

11. **अनुभवनिवेदन**

अभिनवगुप्त की यह कृति रचना संक्षिप्त का नमूना है। इसमें आन्तरिक अनुभवों एवं आभासों का ललितमय वर्णन मिलता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वभूतिपंचिका स्तोत्र, पुरूरवो विचार, योगवसिष्ठ, अनुत्तरशतक, प्रकरणस्तोत्र, स्पन्द आदि भी इनकी कृतियां सम्भावित की गई हैं। निश्चय ही इन रचनाओं को छोड़कर और भी रचनाएं इनकी हस्तलिखित हो सकती हैं, परन्तु वह सभी समय के अन्तराल से काल के गर्त में विलीन हो गई होंगी। लेकिन यह बात तो स्वतः सिद्ध एवं निसंदिग्ध है कि वह एक अपूर्व प्रतिभासम्पन्न एवं उच्चकोटि के विद्वान थे। उनकी रचनाएं शैवदर्शन के अतिरिक्त आगम और साहित्य क्षेत्र में भी आगामी पीढ़ियों के कल्याण हेतु आधार स्तम्भ है। वास्तव में बहुमुखी विद्वता एवं सर्वश्रेष्ठ लेखन के अधिकारी थे।

द्वितीय अध्याय

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र का वर्ण्य विषय

द्वितीय अध्याय

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र का वर्ण्य विषय

"देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र" नामक कृति अभिनवगुप्त द्वारा रचित है। यह रचना लघु रचनाओं में से एक है। इसमें मात्र 15 श्लोक हैं। यह आकार में छोटी होने पर भी आध्यात्मिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इसका एक–एक शब्द आध्यात्मिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र में देह का अर्थ है – शरीर। देवता का अर्थ है – दिव्य प्रकाश और गुणों से युक्त, तेजोमय और सात्विक बुद्धि से युक्त तथा चक्र का अर्थ है समूह अर्थात् देवताओं का समूह। स्तोत्र का अर्थ है – स्तुति। अर्थात् मनुष्य शरीर में जो देवताओं का समूह निवास करता है – उसकी स्तुति की गई है। संसार में असंख्य, विविध और अज्ञात योनियों अथवा प्राणियों की जाति प्रजातियों में मानवयोनि श्रेष्ठ है। वास्तव में यह परमात्मा का अपने को प्रकट करने हेतु उसका अपना ही सर्वोत्तम रूप है। चैतनरूप और देवताओं का निवास होने के कारण उच्चकोटि का ढाँचा है। "यथा ब्रह्माण्डे तथा अण्डे" अर्थात् जिस प्रकार की शक्तियां ब्रह्ममाण्ड में विद्यमान हैं, उसी प्रकार की शक्तियाँ मनुष्य शरीर में भी हैं। जैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, वरुण आदि देवता निवास करते हैं, उसी प्रकार जीव के शरीर में भी देवता मन, बुद्धि, अहंकार और नाना इन्द्रियों के प्रतिरूप से प्रकट हैं। तात्पर्य यह है कि जो विशेष प्रकार की असीमित शक्ति देवताओं में पाई जाती है, वही विशेष शक्ति सीमितरूप से जीव के इस छोटे से आकार वाले शरीर में भी पाई जाती है। इस तथ्य का विवरण इस प्रकार देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र में उपलब्ध है।

1. आत्मा और प्राण

विश्व में जो देवताओं के समूह का प्रजापति है अर्थात् स्वामी है, वही सभी दर्शन शास्त्रों में अग्र पूजित आत्मा है। उसी आत्मारूपी गणपति भगवान् के ध्यान में सूर्य, चन्द्र आदि देवता नतमस्तक होकर निमग्न रहते हैं। वही विश्वात्मा मनुष्य शरीर में प्राणात्मा के रूप में निवास करता है।[1] प्राण उस शक्ति का नाम है, जो जीवन देती है, इसी को प्राणशक्ति या जीवन शक्ति कहते हैं। यह प्राणशक्ति सिर से पांव तक जाल की तरह फैली हुई है। इसी के द्वारा देवतागण, मनुष्य इत्यादि जो भी हैं, वे सभी प्राणों का ही अवलम्ब लेकर जीवित रहते हैं। यही प्राण जीवमात्र की आयु है। इसलिए यह सभी की आयु कहलाता है। जो लोग शरीर में प्राणरूप आत्म की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, वे दीर्घायु को प्राप्त करते हैं और ब्रह्मरूप हो जाते हैं।[2]

मनुष्य शरीर में निवास करने वाले जितने भी इन्द्रिय देवता हैं, सब उस परमतत्त्व से ही शक्ति पाकर शक्तिसम्पन्न बनते हैं। वास्तव में ये सब आत्मा के ही देखने, सुनने, सूंघने और विचारने के साधन हैं। आंख नहीं देखती, आत्मा ही देखता है, कान नहीं सुनते, आत्मा ही सुनता है। इस प्रकार मन भी उसका दिव्य नेत्र है।[3]

माण्डूक्य उपनिषद् में प्राण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं,

---

1. असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे नितम्।
   दर्शनशाग्रयपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे।। (देह.देव.चक्र., स्तो. 1)
2. प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते।
   सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। (तै.उप. 3/2)
3. अथ यत्रैतदाकाशमनुबिषण्णं चधुः स चाक्षुषः पुरुषों दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणामथ यो पेदेदमभिव्याहरणीति...... स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्। (छा.उप. 4/12/8)

उन सबकी उत्पत्ति प्राण से ही होती है। बीजात्मकरूप से प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है। चेतन पुरुष चैतन्य के आभासभूत जीवों को पृथक्–पृथक् प्रकट करता है। समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्ति से पूर्व प्राणात्मक बीजरूप से सत् ही थे।[1] इसी से श्रुति भी कहती हैं कि यह प्राण ब्रह्म ही है।[2]

2. वटुक और अपान

विश्व में यह वटुक भगवान् देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं। वही मनुष्य शरीर में अपान वायु के नाम से जाने जाते हैं। श्रेष्ठ वीर पुरुष अर्थात् जितेन्द्रिय जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, जिसने तीनों लोकों के जितने भी भोग हैं, उन्हें भोगने की जिसको तनिक भी इच्छा नहीं है, वही वीर पुरुष है[3], ऐसे वीर पुरुष, योगनियाँ सिद्ध संत सभी उस वटुक भगवान् का ध्यान करते हैं, वही वटुक भगवान् जीव शरीर में अपान वायु के रूप में पूजित है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी अपान वायु का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जिस हृदयरूपी मन्दिर में ब्रह्मदेव विराजते हें, उसके पांच द्वार हैं, जिसका पश्चिम का द्वारा अपान है, वाक् है। इसका ज्ञान करने वाला ब्रह्मवर्चसी तथा अन्नाद हो जाता है।[4]

प्राणमय शरीर की उपमा पक्षी से की गई है। पांचों प्राणों में मुख्य 'प्राण' मानों उस पक्षी का सिर है। 'व्यान' नामक प्राण उसका दाहिना पंख है। 'अपान' नामक प्राण उसका बायाँ पंख

1. प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक्।। (मा.उप. 1/6)
2. "ब्रह्मैवेदम्" – श्रुति
3. "त्रितयभोक्ता वीरेशः" (शि.सू. 11/1)
4. वरवीरयोगिनीगणसिद्धावपूजितांघ्रयुग्लम्।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे।। (देह.देव.चक्र.स्तो. श्लो. 2)

है। 'समान' नामक प्राण जो बीच में है और आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। पृथ्वी जिस अपान नामक प्राण का आधार है, वह मानों इस पक्षी की पूँछ है।[1]

3. चिन्मय आनन्दभैरव

परम शिव ज्ञान और विमर्श स्वरूप है। वह शुद्ध, अद्वितीय, अनुपम, महातेजस्वी, महान् प्रकाशमान्, तेजोमय है। स्वयंभू होने के कारण स्वप्रेरणा से सृष्टि का निर्माण और अपने में विलीन करने वाला स्वयंकर्ता है। सम्पूर्ण संसार का भरण–पोषण करने के कारण भैरव है। वह पारमार्थिक सत्ता ज्ञान और क्रिया के कारण शिवरूप है। जिस प्रकार जल से उसकी तरंगें, अग्नि से उसकी उष्णता, सूर्य से उसकी रश्मियां भिन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार जीव भी शिवरूप से पृथक् नहीं हो सकता।[2] परन्तु संकुचित ज्ञान के कारण बन्धन में पड़ा रहता है।

यही आनन्दस्वरूप भैरव जीव की हृदयरूपी कमल में बैठकर सभी इन्द्रियरूपी देवों को अपना–अपना कार्य करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।[3] जिस आत्मा के प्रताप से आन्तर शक्तिचक्र के साथ–साथ, बाह्य इन्द्रियाँ – जो (मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियाँ, कमेन्द्रियाँ) जड़रूप हैं, अचेतन हैं। उस चैतन्य से शक्ति प्राप्त कर इन्द्रियवर्ग चेतनधर्मा की तरह तत्–तत् कार्य करने में समर्थ होती हैं। इन्द्रियरूपी देवताओं को भी चेतन की तरह ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने का स्वभाव प्राप्त होता है।

---

1. तस्माद्व एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः ......व्यानो दक्षिणः पक्षः।
   अपान उत्तरः पक्षः। (तै.उप. 2/2)
2. जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभंगा प्रभा रवेः।
   ममैव भैरवस्यैता विश्वभंगयो विनिर्गताः।। (वि. भै.)
3. आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदभोजे।
   अभिपूज्यन्ति चं तं चिन्मयमानन्दभैरव वन्दे।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 3)

केनोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है। शिष्य गुरू से प्रश्न करता है कि किसके द्वारा मन स्फूर्ति पाकर विषयों की ओर प्रेरित होता है? किसके द्वारा यह प्राण प्रथम ही संचालित होता है? किसके द्वारा वाणी क्रियाशील होकर बोलने लगती है? और ऐसा कौन देव है, जो नेत्रों और श्रवणों को देखने और सुनने की शक्ति देता है?[1] गुरू उत्तर देते हुए कहते हैं कि पुत्र जो मन का भी मन है, जो प्राण का भी प्राण है। श्रोतों का भी श्रोत है, चक्षुओं का भी चक्षु है अर्थात शक्ति है, वही परमात्मा है।[2]

4. सदगुरू और बुद्धि

विश्व में यह गुरू को सात्विक बुद्धि का प्रतीक माना गया है। उस सात्विक बुद्धि (गुरू) को आधार बनाकर ही साधक शिव पथ पर चलने के लिए उद्यत होता है।[3] परन्तु जीव दशा को प्राप्त हुआ मनुष्य वही बुद्धि रजस और तमस गुणों से आवृत हो जाती है। अर्थात् वह मल, विक्षेप और आवरणों से आच्छादित रहती है। ऐसी मलिन बुद्धि जीव दशा में घृणा, राग, द्वेष, संशय आदि बादलों घिरी रहती है। इस सीमित बुद्धि या ज्ञान के कारण ही अपने को संकुचित समझता है। यही उसका पशु दशा को प्राप्त करने का कारण है।

विश्व स्तर पर सदगुरू रूपी सात्विक, निर्मल और स्वच्छ बुद्धि ही शिव नेत्र या ज्ञान चक्षु है।[4] यही बुद्धि या ज्ञान का भण्डार कहा गया है। इस प्रकार के दिव्य नेत्र वाला सृष्टि के आदि

1. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितिं मनः केन प्राण प्रथमः प्रैति युक्तः।
   केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उदेवो युनक्ति।। (के.उप. 1/1)
2. श्रोत्तस्य श्रोत्तं मनसो मनो यद्वाचो ह वा चम स उ प्राणस्य प्राणः।
   चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। (के.उप. 2/1)
3. यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति।
   तमहमवधानरूपं सद्गुरूममलं सदा वन्दे।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 4)
4. धीबशातसत्त्वसिद्धि (शि.सू. 12/3)

से अन्त तक को वर्तमान की तरह देख सकता है। दिव्य नेत्र वाला पुरुष गुरू पद को प्राप्त होता है। इसलिए गुरू के विषय में कहा गया है, गुरू ही ब्रह्म, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म है।[1] इस प्रकार के गुरू मिल जाने पर उन्हीं का ध्यान और चिन्तन करना चाहिए। जीव को पशु दशा से पति दशा तक पहुंचाने के लिए गुरू ही माध्यम या उपाय है।[2]

गुरू वह है, जो मन्त्र और वीर्य का प्रकाशक है।[3] जिसकी सभी शक्तियाँ जाग्रत हो चुकी हैं और दूसरों में शक्ति का संचार करने में सक्षम है। ऐसे गुरू जो पाखण्डी और अज्ञानी हैं, उनसे बचना चाहिए। ऐसे गुरू स्वयं तो गड्ढे में गिरेंगे और दूसरों को भी गिरा देंगे। ऐसे गुरूओं को यह कहते अतिश्योक्ति न होगी – "आपन घर पानी नहीं, ओरन बखशात खीर" अर्थात् अपने पास वह ज्ञान है नहीं और दूसरों को देने का दावा करते हैं।

भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिका में सच्चे सतगुरू के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र में अथाह जल होने के कारण उसे पार करने के लिए नौका की परमावश्यकता होती है। उसी प्रकार राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, संशय रूपी भवसागर से पार होने के लिए मेरे गुरू की वाणी नौका के समान सहायक हुई।[4]

मालिनीविजय के अनुसार गुरू का मुख शक्तियों का समूह है अर्थात् शक्तियों का

---

1. गुरूरब्रह्माः गुरूरविष्णुः गुरूरमहेश्वरः
   गुरूसाक्षात परमब्रह्म तस्मै श्री गुरूवे नमः।।
2. गुरूरपाय (शि.सू. 6/2)
3. स गुरुर्मत्सामः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः। (मा.वि. 12)
4. अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम्।
   वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरूभारतीयम्।। (स्प.का. 52/3)

ऐश्वर्य है।[1] गुरू से बढ़कर गुरू की वाणी होती है, जो साधक को अंधकार से निकाल कर प्रकाश की ओर अग्रसर करती है। शिव स्वयं कहते हैं। कि सांसारिक गुरू की वाणी में वे ही प्रकाश करके उपदेश करते हैं।

5. भगवती आनन्द भैरवी

यह भगवती आनन्द भैरवी परमशिव की अभिन्न अनुत्तरविमर्शिनी शक्ति है, जो पूर्णतया स्वतन्त्र और पराशक्ति है। सदाशिव से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक सकल विश्व प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली आनन्द भैरवी को विमर्शरूप अद्वितीय है, अतः सर्ववन्दनीय है।[2]

अभिप्राय यह है कि तत्–तत् अनन्त जगदात्मणरूप से यह चिति भगवती ही स्फुरित होती है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय आदि इसी के अस्तित्व से प्रकाशित होते हैं। इसका कोई भी पार नहीं पा सकता। जैसे – कोई दीपक के प्रकाश से सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता। यह पांव से सिर की छाया लांघने की तरह ही अनुलंघनीय है।[3] इसको स्वतन्त्र इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने की अद्भुत क्षमता रखती है।

6. भैरव और बुद्धिरूपी ब्रह्माणी

जगत् में देवताओं का समूह आनन्दस्वरूप भैरव की नाना प्रकार के फूलों, बिल पत्र, धूप–दीप आदि से निरन्तर पूजा–अर्चना में संलग्न रहता है। मनुष्य के शरीर में बुद्धिरूपी

---

1. शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते (मा.वि.)
2. उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोतनिशम्।
   आनन्दभैरवी तां विमर्शरूपामहं वन्दे।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 5)
3. स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमहीते।
   पादोद्देशे शिरो न स्यात्तेयं वैन्दवी कला।। (त्रि. सा.)

ब्रह्माणी ही निश्चयरूपी पुष्प है। अतः संकल्प विकल्प को दूर करके शुद्ध बुद्धिरूपी ब्रह्माणी से शिव पथ की ओर अग्रसर होना चाहिए।[1]

7. शाम्वभवी और अभिमान

विश्व में शाम्भवी शक्ति शुद्ध अहं के कारण विश्व को अपना क्रीड़ास्थल मानती है। सृष्टि के प्रत्येक कण–कण में अपना अस्तित्व देखती है। उसका अहं संकुचित न होकर सम्पूर्ण विश्व को अपना ही शक्ति का स्फार मानता है। यह सारा विश्व उसी का क्रीड़ास्थल है। यहाँ सारा खेल उसी का पसारा है। उसी के ही शक्तियों का विस्फार रूप है।[2] वह ही जगत् के कण–कण में व्याप्त हो सभी को प्रकाशमय बना रही है।[3] ऐसा शुद्ध अहंकाररूप अभिमान मनुष्य को शिवरूप बना देता है। परन्तु यही अभिमान जीव शरीर में संकुचित अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उसका अहंकार शरीर अथवा अपने से सम्बन्धित सीमित अस्तित्वों से ही रह जाता है। इनका प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण भी परिमित और भिन्न–भिन्न होता है। यह शाम्भवी शक्ति ही जीवरूप में चेतन पदवी से उतर विषयों को ग्रहण करने में तत्पर होकर प्रमेयों जैसे – नील सुख इत्यादि के अनुरूप परिमित होकर अभिमान का रूप धारण करती है। शिव की ज्ञान, क्रिया और माया शक्तियाँ ही जीव दशा में क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस बन जाती हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि स्वातन्त्रात्मा ज्ञान क्रिया माया शक्तिरूपा चितिशक्ति ही पशु दशा में संकोच के प्राबल्य

---

1. अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपुत्रस्य।
   प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम्।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 6)
2. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् (शि.सू. 3/30)
3. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत्।
   स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।
   "स्वशक्तिृचयोऽस्य विश्वम्" – शि.सू., 3/30

से सत्त्वरजस्तमः स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है।[1]

शिवसूत्रों में भी यथार्थतत्त्व निरूपण में तो चिति को आत्मा कहा गया है[2] और माया के चंगुल में फंसे जीव का लक्षण बतलाते समय चित्त को आत्मा कहा गया है।[3] जैसे विश्व में भगवान् शिव की अग्नि दिशा के अग्रिम भाग पर देवतागण फूलों को अर्पित करते हैं, उसी प्रकार साधक को अहंकार अर्थात् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय रूपी पुष्प अर्पण करने के पश्चात् विश्व अपने रूप में भासने लगता है।[4]

8. कुमारी और मन

विश्व में यह शिव में अपृथक्‌रूप से निवास करने वाली कुमारी शक्ति है। यह इसी शक्ति के द्वारा सारा विश्व का खेल सम्पन्न होता है। समस्त विश्व उसका क्रीड़ास्थल है। वह शक्ति सभी देवियों में नाम और रूप से निवास करती हैं। उसी की इच्छा से सूर्य में उष्णता है। वह शक्ति सभी का आधार है।[5] वही शक्ति सभी का आधार है और वही शक्ति जीवरूप में संकुचित होकर मन नामक शक्ति का रूप धारण करती है और इस रूप में संकल्प–विकल्प करती है। भैरव स्तर का साधक इन संकल्प–विकल्परूपी पुष्पों से भैरव की पूजा करता है।[6]

1. स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।
2. चैतन्यमात्मा (शि.सू. 1/1)
3. आत्मा चित्तम् (शि.सू. 1/3)
4. कुरूते भैरवपूजामनलदलस्थाऽभिमानकुसुमैयं।
   नित्यमहंकृतिरूपां वन्दे तां शाम्भवीमन्वाम्।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 7)
5. सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति।
   योगमायाप्रतिच्छत्रा कुमारी लोकभावनी।। (स्व.,तं.
6. विद्धाति भैरवार्चा दक्षिणदलगाविकल्पकुसुमैर्या।
   नित्यं मनःस्वरूपां कौमारी तामहं वन्दे।। (देह.देव.चक्र. श्लो. 8)

यह जीव का दिव्य नेत्र है। वह इसी से प्रेरणा पाकर सभी कार्य करता है। मन का कार्य इच्छायें उठाना, संकल्प–विकल्प करना, कामनायें करना, कल्पना करना और ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के साथ ही बुद्धि को भी क्रियाशील करना है।

9. वैष्णवी और वाक्

यह शक्ति विश्व में वैष्णवी के नाम से जानी जाती है। यह शक्ति भैरव की नैऋत दिशा में शब्दरूपी कुसुमों को अर्पण करके ध्यानस्थ रहती है। यह वैष्णवी शक्ति अद्वितीय और शिव की शक्ति के रूप में वन्दित है।[1] वही शक्ति जब अपने स्तर से नीचे उतर कर जीव दशा को प्राप्त होती है, उस समय यह संकुचित अवस्था को ग्रहण करने वाली हो जाती है। जीव दशा में वाणीरूप धारण करके स्थूल आकार ग्रहण करती है। यह जीव शरीर में शब्द के प्रस्फुटित होने से अपने अस्तित्व का भान करवाती है।

10. इन्द्राणी और चक्षु

विश्वरूप में यह शक्ति इन्द्राणी नाम से विख्यात हैं यह शक्ति इन्द्र के समान सभी शक्तियों पर अपना शासन करती है। यही शक्ति जब अपने स्तर से नीचे उतर कर संकुचित हो जाती है, तो जीव दशा को प्राप्त करती है और दृक् नामक देवता के रूप को धारण करती है।[2] जिसका कार्य जीव शरीर में निवास करके वस्तु के रूप, रंग, आकार का अस्तित्व स्पष्ट दिखाना है। इसी शक्ति से मनुष्य बाहरी दृश्य जगत् को देखने में समर्थ होता है। इसी से वस्तु के भिन्नत्व को देखता है।

---

1. नैऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या।
   प्रणामि शब्दरूपां नित्यं तां वैष्णवी शक्तिम्।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 9)
2. वरारूपविशेषैर्मारुतदिगदलनिषण्णदेहा या।
   पूज्यति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनुं वन्दे।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 11)

11. चामुण्डा और जिह्वा

विश्वरूप में यह शक्ति चामुण्डा नाम से जानी जाती है। यह शक्ति भैरव की पूजा के लिए विविध प्रकार के छः रसों से पूजा करती है।[1] यही शक्ति जीव शरीर में संकुचित होकर रसनेन्द्रिय नाम से विख्यात है। इस अवस्था में यह स्वाद चखती और मस्तिष्क को सूचना देती है और सीमित परिधि में बंध जाती है। जो जीभ के सम्पर्क में आ पाता है, उसका ही स्वाद ग्रहण कर सकती है।

12. महालक्ष्मी और घ्राण

विश्वरूप में यह शक्ति महालक्ष्मी नामक शक्ति के नाम से प्रख्यात है। ब्रह्माण्ड में यह महान शक्ति के रूप में पूजनीय है।[2] यही जीव दशा में संकुचित होने के कारण घ्राणेन्द्रिय नाम से जानी जाती है। यह नाक के माध्यम से गंध ग्रहण करती है और यह निश्चित परिधि के अन्दर रह गन्ध के परमाणुओं को ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुंचा देती है।

13. क्षेत्रपति और आत्मा

विश्वरूप में यह क्षेत्रपति अर्थात् प्रजापति के नाम से विख्यात है। क्षेत्रपति ही जीव अवस्था में आत्मा के नाम से जाना जाता है। यह क्षेत्रपति ही षट दर्शनों में अग्र पूजित

---

1. धनपतिकिसलयनिलयां या नित्यं विविधषड्रसाहारैः।
   पूज्यति भैरवं तां जिव्हाभिख्यां नमामि चामुण्डाम्।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 12)
2. ईददलस्था भैरवमर्चयते परिमलैर्विचित्रैर्या।
   प्रणामामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम्।। (देह.देव.चक्र. स्तो. 13)

है। वही 36 तत्त्वों को प्रकाशित करता है।[1] गीता में भी भगवान कृष्ण ने भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की बात को कहा है कि यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।[2] सम्पूर्ण क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ मुझको जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है।[3]

---

1. षडदर्शनेषु पूज्यं षड्निशत्तत्त्वसंवलितम्।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे।। (तदेव 14)
2. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (भग.गी. 1/13)
3. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।। (भग.गी. 2/13)

तृतीय अध्याय

उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

तृतीय अध्याय

उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

वेदों का अन्तिम भाग होने से तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से प्रख्यात है। उपनिषदें वैदिक शिक्षाओं का साररूप मानी जाती हैं। इनकी नींव के ऊपर ही बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशाखों और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक ज्ञान का मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न–भिन्न नदियाँ निकल कर इस पुण्य स्थल में मानवमात्र के कल्याण और मंगल की कामना से बहती है। वैदिक धर्म की मूल–तत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही है, अन्य प्रस्थान गीता ओर ब्रह्मसूत्र उसी के ऊपर अवलम्बित हैं।

भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों का ही मूलग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन और बौद्ध दर्शनों की आधारशिला ही यही हैं। उपनिषदों का आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने में उतना ही समर्थ है, जितना कि प्राचीन समय में था। उपनिषदों का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है।

<u>उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास</u>

<u>उपनिषद् से तात्पर्य</u>

शास्त्रों में प्रायः दो प्रकार के विषयों का वर्णन मिलता है। पहले विषय के अन्तर्गत संसार का समस्त ज्ञान आता है, जैसे – कृषि, व्यापार, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, इतिहास,

राजनीति, विज्ञान, भूगोलादि आदि। दूसरा विषय आत्मा—परमात्मा के ज्ञान विषयक मिलता है, जिसके मुख्य रूप से प्रतिपादक शास्त्र 'उपनिषद्' कहे जाते हैं। उपनिषद् शब्द विषयक नाना मत इस प्रकार माने जाते हैं—

व्याकरणपरक मत

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षद्लृ 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निष्पन्न होती है। षद्लृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है— (1) विशरण या शिथिल करना, (2) गति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना, (3) अवसादन अर्थात् नाश करना।

उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है— उप और निषद् के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ समीप अर्थात् निकट है और 'निषद्' का अर्थ बैठना है अर्थात् वह विद्या जो गुरू के समीप बैठकर पढ़ी जाती है, वह 'उपनिषद्' नाम से विख्यात है।

वेदपरक मत

वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त अर्थात् गुह्यविद्या भी कहा जाता है, क्योंकि उपनिषदों में इति रहस्यम् और इति गुह्यम् शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि रहस्य भी उपनिषद् शब्द का पर्यायवाची शब्द है। वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, जीव और जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। उपनिषदों का प्रमुख विषय ब्रह्म का वर्णन करना है। इसलिए इसका नाम ब्रह्मविद्या भी है। जैसे— आयु को बढ़ाने वाला होने से घृत ही आयु कहा गया है, उसी प्रकार

उस ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने के कारण 'उपनिषद्' नाम पड़ गया है। अतः ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है। उपनिषद् का अर्थ विद्या भी है, वह विद्या जो ब्रह्म के समीप ले जाने वाली है। इसमें परम श्रेय वस्तु ब्रह्म उपस्थित है। इसलिए विद्या ही उपनिषद् है।

वेदान्तपरक अर्थ

वेद शब्द विद् (ज्ञाने) धातु से निष्पन्न होने वाले 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद चार हैं– ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और प्रत्येक वेद के चार–चार भाग हैं– मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है। मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक में कर्म और उपासना आदि पर अति विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है। वेदों का यह भाग ज्ञानपरक है। वैदिक साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में ज्ञान–विज्ञान की रत्नराशि सच्चिदानन्दमयी ज्योति के रूप में प्रस्फुटित हो रही है। इसमें कल्याणमय ज्ञान का अखण्ड और अनन्त प्रकाश भरा है, जिसके ऊपर बहुत से भारतीय दर्शन, शास्त्र और धार्मिक सम्प्रदायों के विचार रूपी भवन खड़े हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों से सम्बन्धित अर्थात केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या उपलब्ध होती है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने चिन्तन–मनन और अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मसाक्षात्कार किया है।

उपनिषदों में वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यद्यपि उपनिषदों की भाषा अधिक प्रवाहमयी है, तथापि वेद और ब्राह्मणों की भाषा से अधिक सरल है। बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का क्रम आता है उपनिषद्

ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

दार्शनिक मत

जैसा कि व्याकरण की दृष्टि से बतलाया गया है कि उपनिषद् शब्द उपसर्गपूर्वक निषद् धातु से बना है, जिसका अभिप्राय पास बैठना होता है। दार्शनिक रूप से विचार किया जाए, तो पता चलता है कि उप+वास और उप+निषद् का एक ही अध्यात्मपरक अर्थ निकलता है। जैसा कि कठोपनिषद् में भी धर्मराज नचिकेता को बतलाते हैं कि विधाता ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है और प्रायः जीव (अज्ञानी पुरुष) इनके विषयों (शब्दादि) में ही फंसे रहते हैं अर्थात् बहिर्मुख (Extrovert) रहते हैं। अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते। इसीलिये संसारचक्र में पड़े रहते हैं। अतः मोक्ष अथवा परमानन्द प्राप्ति के लिये आत्मा के समीप (उप) बैठना (निषद्) चाहिये। चूंकि उपनिषदें इस आत्मा अथवा परमात्मा (ब्रह्म) के समीप बैठाने अर्थात ज्ञान कराने का माध्यम है। इसलिये इनका उपनिषद् नाम सार्थक है।

शंकराचार्य के मतानुसार

सदानन्द के अनुसार उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाले शास्त्र को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है तथा उपनिषदों का अनुसरण करने वाले शारीरिक (ब्रह्म) सूत्र भी वेदान्त है।[1] 'उपनिषद्' शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य को बोधित करता है, जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। यह 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद्

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणिशारीरिकसूत्रादीनि च (बे.सा. 1/11)

धातु के क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। उपनिषद् शब्द को तीन अर्थों में विभक्त किया है– गति, अवसादन और विशरण। गति का अर्थ ज्ञान, गतिशील तथा प्राप्ति करना ही प्रतिपादित होता है। शेष दो अर्थों की संगति इस प्रकार है– विशरण का अर्थ है– नाश करना। ब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर अविद्या या अज्ञान का विनाश होता है। अवसादन का अर्थ है– शिथिल होना, जन्म–मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है[1] अर्थात् ज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम अज्ञान का विनाश होने के पश्चात् उस परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो सत्त्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे है और काल–स्वभाव–कर्म–जीव आदि का नियामक है, उसी की कलामात्र से शक्तिसम्पन्न होकर प्रपंचमय विश्व बना हुआ है।[2] ऐसे ब्रह्म की उपलब्धि से जन्म–मृत्यु का बन्धन कट जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म विद्या की प्राप्ति से हृदय की सब ग्रन्थियां नष्ट होकर सब प्रकार का अज्ञान भी विदीर्ण हो जाता है।[3]

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि उसको जान लेने पर जीवन की सब समस्याएं हल हो जाती हैं। उस सबसे परे और निकट रहने वाले आत्मा का अनुभव कर लेने पर हृदय की गांठ खुल जाती है। समस्त संशय मिट जाते हैं। सब कर्मों का फल देने वाले कर्म नष्ट हो जाते हैं। शाश्वत सुख–शान्ति की प्राप्ति होती है, जो आत्मा को जान लेते हैं।[4]

गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृंदस्य लोकान्तरे पोर्वः पुण्येन प्रवृतस्य

1. अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्...... अवसादयित्रत्वेन वा...... ब्रह्मविद्योपनिषद्। (क.उप., शां.भी., 1/1)
2. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः। (श्वेत. उप. 1/3)
3. यदा सर्वे पभिद्यन्ते हृदयस्ये ग्रन्थयः अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् (क.उप. 6/15)
4. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया। क्षीयन्ते चास्य कमार्णि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। (मु.उप. 2/8)

आत्मानुभव का आनन्द सर्वोच्च और परमानन्द है। इसलिए वही 'रस'—परमानन्द— है। परमानन्दरूपी रस को पाकर जीव आनन्द से पूर्ण हो जाता है। यदि वह आकाशवत् सर्वत्र पूर्ण आनन्द रूप न होते, तो दूसरा कौन जीवित रह सकता? यह आनन्दरूपी ब्रह्म ही सबको आनन्दित करता है।[1]

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। साधारणतः उपनिषदों की संख्या 102 तक मानी जाती है, जिनमें से लगभग 10 उपनिषदें प्रमुख मानी गई हैं। शंकराचार्य ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है, वे उपनिषदें प्राचीनतम और प्रामाणिक मानी जाती है। उनके नाम इस प्रकार से हैं—

1. ईश
2. केन
3. कठ
4. प्रश्न
5. मुण्डक
6. माण्डूक्य
7. तैत्तिरीय
8. ऐतरेय
9. छान्दोग्य
10. बृहदारण्यक

1. ईशावास्योपनिषद्

यह माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेद संहिता का 40वां अध्याय है, जिसके आद्य पदों (ईशावास्यमिदं

1. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँह्येवाय लब्ध्बाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्याकः प्राव्याद् चदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति। (तै.उप.अनु. 7)

सर्वम्) के आधार पर इस उपनिषद् का नाम रखा गया है। इसमें मात्र 18 मन्त्र हैं। इसके प्रारम्भिक मन्त्र में ही ईश्वर की कण–कण में व्यापकता और वैराग्यभाव से भोगने का परामर्श दिया गया है[1] और इसमें ज्ञानदृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाया गया है। यह उपनिषद् कर्म–सन्यास का पक्षपाती न होकर यावज्जीवन निष्कामभाव से कर्म करने में विश्वास रखता है।[2] इसमें अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के पश्चात् विद्या–अविद्या तथा सम्भूति–असम्भूति का सुन्दर विवेचन किया गया है।[3]

2. केन–उपनिषद्

अपने प्रारम्भिक पद (केनेषितं पतति) के कारण यह 'केन' उपनिषद् कहलाती है और तवलकार शाखा से सम्बन्धित होने के कारण तवलकार उपनिषद् भी कहलाती है। यह उपनिषद् छोटे–छोटे चार खण्डों में विभक्त है। उपनिषद् का आरम्भ एक सच्चे जिज्ञासु के प्रश्नों से होता है, जो यह जानना चाहता है कि मनुष्य शरीर के समस्त व्यापार किस शक्ति की प्रेरणा से हो रहे हैं।[4] प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है। दूसरे खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन किया गया है।[5] तृतीय और चतुर्थ खण्ड

1. ॐ ईशावास्यमिदं ꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
   तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। (ई.उप., मं. 1)
2. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समाः।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (ई.उप., मं. 2)
3. विद्यां चाविद्यां च यस्तदवेदोभय ꣳ सह।
   अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।
   अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
   ततो भूय इव ते तमो ये उ सम्भूत्या ꣳ रताः।। (ई.उप., मं. 11, 12)
4. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथम प्रैति युक्तः।
   केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः क्षेत्रं क उदेवो युनक्ति।। (के.उप., मं. 1/1)
5. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
   यो नस्तद्वेद न द्वेद नो न वेदति वेद च।। (के.उप., मं. 2/2)

में उमा हेमवती के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का और देवताओं का अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन छोटा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से यह पर्याप्त रूप से सराहनीय है।

3. कठ–उपनिषद्

कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत आता है। इस कारण इस उपनिषद् का नाम कठोपनिषद् पड़ गया। इस उपनिषद् में महान् अद्वैत तत्त्व का गम्भीर विश्लेषण मिलता है। इसका विषय दो अध्यायों और पुनः प्रत्येक अध्याय की तीन बल्लियों में विभक्त है। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतरूप में विद्यमान नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से उसका आरम्भ होता है। नचिकेता के बार–बार आग्रह करने पर यमराज अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों का मार्मिक उपदेश देते हैं। इस उपनिषद् का गम्भीर शंखनाद यह है – कि वह परब्रह्म मन के द्वारा ही प्राप्त किया जाने योग्य है। इसमें नानात्मक कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति इस जगत् में भिन्नत्व देखता है, वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है। यह भी वही है।[1] नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म ही सब प्राणियों की हृदय गुहा में वास करता है। उसी का साक्षात्कार करना शान्ति का एकमात्र साधन है।[2] मूंज की इषिका के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिए– यही इसका व्यवाहारिक उपदेश है।

1. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। (क.उप., 2/1/11)
2. नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।। (क.उप., 2/2/13)

4. प्रश्न उपनिषद्

इस उपनिषद् में छः ऋषि अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए महर्षि पिप्लाद के समीप जाते हैं और उनसे सच्चे जिज्ञासुभाव से अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सर्वथा सार्थक है। प्रश्नों का विषय अध्यात्म जगत् से सम्बन्धित है, जिनका उत्तर देकर महर्षि पिप्पलाद एक उदात तत्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते हैं। जानने योग्य प्रश्न ये हैं – (1) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है?[1] कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं तथा कौन सर्वश्रेष्ठ है?[2] प्राणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण आदि विषयक प्रश्न।[3] स्वप्न, जागरण तथा स्वप्न दर्शन आदि विषयक प्रश्न।[4] ॐकार पुरुष की उपासना तथा उससे लोकों की विजय[5], षोडशकला–सम्पन्न पुरुष की विवेचना।[6] इन प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का वर्णन बड़ी मनोहरता और गम्भीरता के साथ किया गया है।

---

1. भगवन कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्त इति। (प्र.उप. 1)
2. भगवन्कत्येव देवा प्रजा विधारयन्ते कतर एवत्प्रकाशयन्ते कः पुरेषां वरिष्ठ इति। (प्र.उप. 2)
3. भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिंशरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते बाह्यमभिद्यते कथमध्यात्ममिति। (प्र.उप. 3)
4. भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिंजाग्रति कतर एष देवः स्वप्नपश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सप्रतिष्ठता भवन्तीति। (प्र.उप. 4)
5. स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति। (प्र.उप. 5)
6. षोऽशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुबं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदि कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमविभदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तु स तुष्णीं रथमारूथ प्रवब्राज। (प्र.उप. 6)

5. मुण्डक–उपनिषद्

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् इस उपनिषद् को ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को सब विद्याओं के आश्रयरूप इस ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया है। इसके तीन मुण्डक तथा प्रत्येक मुण्डक के दो–दो खण्ड हैं। यज्ञीय–अनुष्ठान अदृढ़रूप प्लव है, जिसके द्वारा भवरूपी सागर कभी पार नहीं हो सकता है। यज्ञादि को ही महत्त्व देने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक को पाकर पुनः इस मृत्युलोक पर आते हैं।[1] इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के पश्चात् ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। पक्षियों का रूपक देकर इस उपनिषद् में जीव और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध समझाया गया है।[2] वेदान्त शब्द का प्रथम दर्शन इसमें ही उपलब्ध होता है।[3] ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय होने की तुलना नामरूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में लीन होने से की गई है। इसमें सांख्य ओर वेदान्त के कुछ तथ्यों का दृष्टिगोचर होता है।

6. माण्डूक्य–उपनिषद्

यह उपनिषद् आकार से जितनी छोटी है सिद्धान्त में उतनी विशाल और गूढ़ रहस्यों से भरी पड़ी है। इसमें मात्र 12 वाक्य हैं, जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा मार्मिक ओर रहस्यमय विवेचन किया गया है[4] इस उपनिषद् में ॐकार की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, ॐकार

1. इष्टापूर्तम मन्यमाना वरिष्ठं नान्च्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ा।
   नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमंलोकं हीनतरं वा विशन्ति।। (मु.उप. 1/2/10)
2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (मु.उप. 3/1/1)
3. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
   ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।। (मु.उप. 3/2/6)
4. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् (मा.उप. मं. 2)

ही अक्षर और अविनाशी परमात्मा है। वह सम्पूर्ण जगत् उसकी निकटतम महिमा का बोध कराने वाला है। जो कुछ पहले था तथा जो भविष्य में होने वाला है, वह सब ओंकार है। इन तीनों कालों से परे भी जो कुछ है, वह सब ओंकार ही है।[1] ॐकार की मात्रायें होती हैं तथा अंश 'अमात्र' होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं– जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा। इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमशः चार प्रकार का होता है– वैश्श्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशमरूपी शिव, जिनमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्धरूप है।

7. तैत्तिरीय–उपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक का अंग है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस अध्याय हैं, उनमें सातवां, आठवां और नवम अध्याय को तैत्तिरीय उपनिषद् कहा गया है। शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली – ये तीन वल्लियां हैं तथा हर वल्ली के कई अनुवाक हैं। शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में वर्णों के उच्चारण आदि के नियमों के साथ आधिलोकादि उपासनाओं के प्रकार बताये गये हैं।[2] साथ ही अनेक सूक्ष्म विषय यथा जगत् के मूल भूत तत्त्व का बोध कराया गया है। इसके अतिरिक्त शिष्य आदि के आचरण के नियम की भी शिक्षा दी गई है।[3] ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म का बोध उसके

---

1. ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति।
   सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।। (मा.उप. मं. 1)
2. शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः।
   अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। (तै.उप. अनु. 2, 3)
3. सत्यं वद् धर्मं चर। स्वाध्यायान्म। प्रमदः। आचार्यय प्रियं धनमाहृत्य
   प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। (तै. उप. 1/11)

द्वारा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति आदि कहकर अन्त में ब्रह्मानन्द के स्वरूप का बोधन करने के निमित्त मनुष्य के आनन्द से लेकर ब्रह्म के आनन्द का बड़ा ही सुन्दर और सुबोधरूप से समझाया गया है।[1] भृगुवल्ली में तप के द्वारा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म आत्म तत्त्व का साक्षात्कार कराने हेतु वरुण पिता भृगु के प्रश्नोत्तर के रूप में दिया गया है।

8. ऐतरेय–उपनिषद्

ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेदीय उपनिषदों में से है। ऐतरेय आरण्यक के पांच भाग है, उनमें द्वितीय भाग के 4, 5, 6 अध्यायों को 'ऐतरेयोपनिषद्' कहते हैं। यह तीन छोटे–छोटे अध्यायों में उपनिषदों की शिक्षा का सारांश दिया गया है। प्रथम अध्याय में संसार की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया है और उसके उत्तर में यह घोषणा कर दी गई है कि प्रारम्भ में यह जगत् केवल एक आत्मा के रूप में ही था।[2] उसके अतिरिक्त कोई अन्य चेष्टा करने वाला नहीं था। उसने सोचा कि मैं लोगों की सृष्टि करूं। तब उसी ने इन लोकों को रचा।[3] मनुष्य का शरीर ही पुरुष के लिए उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है, जिसके शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों में देवताओं ने प्रवेश किया है। तदन्तर परमात्मा उसके मूर्ध–सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है[4], तथा जीवभाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तदात्म्य रखता है। गुरुकृपा के फलस्वरूप सर्वव्यापक शुद्धस्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा इन्द्र की संज्ञा उसे प्राप्त होती है। अन्तिम अध्याय में

---

1. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तै.उप. 2/7)
2. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
   नान्यत् किंचन मिषत्।। (ऐत.उप. 1/1/1)
3. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।
   स इमान् लोकानसृजत्।। (ऐत.उप., 1/1/2)
4. स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। (ऐत. उप., 3/12)

'प्रज्ञान' की विशेष महिमा प्रदर्शित है, जिससे निःसन्देह यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है।

9 छान्दोग्य–उपनिषद्

यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों में नित्तान्त प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय बहुल है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें अन्तिम तीन अध्यात्म–ज्ञान की दृष्टि से नित्तान्त महत्त्वपूर्ण है। इसके आरम्भिक अध्यायों में अनेक विद्याओं का ॐकार तथा साम के गूढ़ स्वरूप का विवेचन मनोहरता से किया गया है। तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। इस उपनिषद् का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सब कुछ ब्रह्म ही है[1], अद्वैतवाद का विजयघोष है। चतुर्थ अध्याय रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्यकाम जाबाल तथा उसकी माता की कथा वर्णित है[2], पंचम अध्याय में प्रवाहन जैबलि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा कैकय अश्वपति के सृष्टि सम्बन्धी तथ्यों का विशाल वर्णन है। षष्ठ अध्याय में महर्षि आरुणी के ऐक्यप्रतिपादक सिद्धान्तों की रोचक व्याख्या है। सप्तम अध्याय में सनत्कुमार तथा नारद आत्मविद्या की चर्चा है। अन्तिम अध्याय में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है तथा आत्मप्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर संकेत किया गया है।

10. बृहदारण्यक–उपनिषद्

यह उपनिषद् परिमाण में ही विशाल नहीं है, प्रत्युत् तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में भी गम्भीर और प्रामाणिक है। यह बृहत्तम, विपुलकाय और प्राचीनतम उपनिषद् सर्वत्र स्वीकृत है। इसमें

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा.उप. 3/14/1)
2. सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे। (छा.उप. 4/4/1)

केवल छः अध्याय हैं। इस उपनिषद् में दार्शनिक तथ्य मुख्यरूप से वर्णित हैं। इसमें सर्वत्र याज्ञवल्क्य की आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचार–प्रसार है। प्रथम अध्याय में मृत्यु के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के ग्रसित होने का, प्राण की श्रेष्ठता का और सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्तस्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु की रोचक कथा है। इसी अध्याय में हमारा प्रथम बार याज्ञवल्क्य से साक्षात्कार होता है, जो अपनी दोनों पत्नियों के बीच धन विभक्त कर वन की ओर प्रस्थान करना चाहते हैं। मैत्रेयी के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में जनक और याज्ञवल्क्य का आख्यान है। पंचम अध्याय में नाना प्रकार दार्शनिक तथ्यों का विवेचन है, जैसे– नीति–विषयक, सृष्टि–विषयक और परलोक–विषयक तथ्य। षष्ठ अध्याय में जैबलि ने पंचाग्नि–विद्या का विशद विवेचन किया गया है। उनका यह उपदेश बृहदारण्यक की अध्यात्मविद्या का महत्त्वपूर्ण अंग है। परन्तु मैत्रेयी के साथ अध्यात्म चर्चा से स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार की सांसारिक सम्पदायें आत्मज्ञान के समक्ष नगण्य है। इसलिये आत्मा का ही उपदेश, मनन, चिन्तन और निदिध्यासनादि करना चाहिये, जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों का प्रतिपाध विषय

1. ब्रह्म (परमात्मा)

उपनिषदों में परमसत्ता का द्योतक 'ब्रह्म' माना गया है। उपनिषदों के अनुसार उस परब्रह्म को जान लेने पर सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हस्तामलकवत् हो जाता है। उपनिषदों में ऋषियों ने उसके निराकार तथा निर्गुण एवं साकार व सगुण दोनों स्वरूपों का विवेचन किया

है। उनमें कहा गया है कि वह स्वयंप्रकाश और अत्यन्त तेजोमय है, आकारहीन है, स्वयंभू होने के कारण अजन्मा है अर्थात् जन्म–मरण के चक्र से मुक्त है, वह बाहर भी है, भीतर भी है, अप्राण है, इन्द्रियविहीन है। ऐसा श्रेष्ठ एवं विशुद्ध वह नाम रूपादि उपाधियों से ऊपर है।[1]

वह ब्रह्म (परमात्मा) परमप्रकाशमय कोष में स्थित है, वह अत्यन्त निर्मल है और उनमें हाथ–पैर आदि अंगों का अस्तित्व नहीं है अर्थात् वह अपने निर्विकार स्वरूप में स्थित है। उसी की ज्योति से जितने भी ज्योतिर्मय पदार्थ हैं, प्रकाश पा रहे हैं।[2] उसके दिव्य धाम में न तो सूर्य प्रकाश करता है, न चांद–तारे प्रकाशित होते हैं, न बिजली का प्रकाश होता है, इस साधारण अग्नि की तो बात ही क्या है। वह स्वतः ही प्रकाशमान् है, प्रत्युत् उस परमात्मा के ही प्रकाशित होने पर सब कुछ प्रकाशमान् होता है अर्थात् सूर्य आदि प्रकाशमान् वस्तुओं को तो उसी परमात्मा का प्रकाश प्रकाशित करता है। उसके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है।[3]

ऐसा ब्रह्म 'एकोऽहम् बहुस्याम्' के संकल्पमात्र से असंख्य रूपों में प्रकाशित होता है, जिसे सृष्टि की संज्ञा दी गई है। परमात्मा के इस जाग्रत् स्वरूप को जगत् बताया गया है। वह सत्ता सदैव रहती है, इसका कभी विनाश नहीं होता। अतएव उसे 'अक्षर' भी कहा जाता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से ही तन्तुओं को निकालती है और फिर समेट लेती है, उसी प्रकार सारा विश्व ईश्वर से प्रादुर्भूत हुआ है और उसी में उसका लय भी हो जाता है।[4]

1. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
   अप्राणो, ह्यमनाः शुभ्रो ह्यसरात् परतः परः।। (मु. उप. 2/1/2)
2. हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
   तच्छुभ्रं ज्योतिषांजयोतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। (मु.उप. 2/2/9)
3. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमां विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
   तमेव मान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। (मु.उप. 2/2/10)
4. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। (मु.उप. 1/1/7)

वह शक्ति अपरिवर्तनशील अर्थात् सत् है इसीलिए वह अपने में ही 'अथ भी है' और 'इति' भी। जिस प्रकार अच्छी तरह प्रज्वलित अग्नि से उसी के रूप में और गुण वाली अनेकों चिंगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेक प्रकार की देह, रूप एवं उपाधिवाली सृष्टि प्रकाश में आती है और पुनः उसी में विलीन हो जाती है।[1]

जिससे यह समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसको प्राप्त होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं, वही 'ब्रह्म' है।[2] उस परब्रह्म परमात्मा तक वाणी आदि इन्द्रियों की पहुँच नहीं है अर्थात् उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उस परमानन्द के धाम में मन सहित वाणी उसे न पाकर वापिस लौट आती है।[3] वह ब्रह्म अनादि और अनन्त है। इस भवसागर के भीतर वह सर्वत्र व्याप्त है, उन्हीं ने अनेक रूप धारण कर रखा है। इस प्रकार के परमात्मा को जान लेने पर जीव समस्त बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।[4]

वे ब्रह्म समस्त विकारों तथा उपाधियों से रहित है, कलारहित है, क्रियारहित है, शान्त है, दोषों से रहित है, निर्मल है, अमृत के सर्वश्रेष्ठ पुल अर्थात् भवसागर पार करने

---

1. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।।
   तथाक्षरात् विविधा सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति। (मु.उप. 2/1/1)
2. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।।
   यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।। (तै.उप. 3/1)
3. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
   आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कदाचनेति। (तै.उप. 4/1)
4. अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
   विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशः।। (श्वेत.उप. 5/13)

के लिए पुल स्वरूप हैं। जले हुए ईंधन वाली धूम रहित अग्नि के समान केवल प्रकाश रूप हैं।[1]

वह ब्रह्म (परमात्मा) अणु से भी अणु अर्थात् अतीव सूक्ष्म हैं तथा महान् से भी महान् अर्थात् अत्यन्त महान् हैं। वह जीव के हृदय की गहरी गुफा में स्थित हैं। परमात्मा की ही कृपा होने पर उस महान् महिमा वाले सर्वेश्वर को कोई जान पाता है, तभी ऐसा व्यक्ति दुःखशोक से रहित परमानन्द को प्राप्त होता है।[2]

ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित तथा रसरहित और गन्धरहित, विकाररहित, नित्य, आदिरहित अनन्त, महत्तत्व से भी परे अचल है। ऐसे परमात्मा को प्राप्त करने पर मनुष्य जन्म एवं मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है।[3] वह धूमरहित ज्योति के समान अर्थात् शुभ्र स्वरूप वाला तेजस्वी है। वही इस चराचर जगत् का अधिपति है। वह जैसा आज है, वैसा ही कल रहेगा अर्थात् वह तीनों कालों में एक रस ही रहा करता है। सांसारिक पदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, परन्तु परमात्मा में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। उसमें कभी भी किसी प्रकार का परिणाम नहीं हुआ करता है। यही वह ब्रह्म है।[4]

वह ब्रह्म ही इन्द्र, प्रजापति और समस्त देवताओं का समूह है। यह जो पंचमहाभूत

---

1. निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्य निरंजनम्।
अमृतस्य परँ्सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।। (श्वेत.उप. 6/19)
2. अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।। (श्वेत.उप. 3/20)
3. अशब्दमस्पर्शमरुपमव्ययं तथारसं नित्यममन्धवंच यत्।
अनाद्यनन्तं महतः पर ध्रवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।। (क.उप. 1/3/15)
4. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्व एतद्वै तत।। (क.उप. 2/1/13)

(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और ज्योतियां हैं, अत्यन्त सूक्ष्म परस्पर मिले हुए जो जीव बीज रूप हैं और इनसे भिन्न दूसरे भी जीव अंडज, पिण्डज, स्वदेज, उद्विज हैं तथा भूमि से उत्पन्न होने वाली समस्त वनस्पतियाँ, घोड़े, हाथी, मनुष्य आदि जो कुछ भी प्राणी वर्ग हैं और चलने–फिरने वाले, पंख वाले या एक स्थान पर स्थिर रहने वाले वृक्षादि हैं, वे सभी उस ज्ञानरूप ब्रह्म में स्थित है। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञानरूप परमात्मा से ही ज्ञान शक्ति सम्पन्न है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। उन्हीं की हम उपासना करते हैं।[1]

2. आत्मा जीवात्मा

उपनिषदों में आत्मा के विषय पर सुन्दर विवेचन किया गया है। आत्मा वह है, जिसकी शक्ति से मनुष्य रूप को देखता है, वाणी बोलता है, मीठे और कडुवे स्वाद का ज्ञान प्राप्त करता है, यह जिसकी शक्ति से होता है, वही वह आत्मतत्त्व है। शरीर में आत्मा रहने तक ही यहां सब इन्द्रियां अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं, वही आत्मा हमारा उपास्य है।

मनन शक्ति, ज्ञान, विज्ञान, मेधा, स्मृति, धैर्य, संकल्प, कर्मशक्ति आदि जो मनुष्य के व्यवहार में अनुभव होते हैं, वे सब के सब आत्मा के रूप हैं।[2] जैसे शब्द दुन्दुभी से भिन्न नहीं समझा जा सकता। दुन्दुभी की सत्ता से ही दुन्दुभी के उस शब्द की सत्ता है जैसे– शंख के बजने से जो शब्द होता है, वह शंख से भिन्न नहीं समझा जा सकता, शंख की सत्ता से ही शंख के शब्द की सत्ता है। जैसे– वीणा के बजने से जो शब्द होता है, वह वीणा से भिन्न नहीं समझा

---

1. एष ब्रह्मेष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि ......ज्योतीषीत्येतानीमानि...... चाण्डजानि च जारूजानि...... प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐत.उप. 3/1/3)
2. यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जतिः स्मृति संकल्पः क्रतरसः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। (ऐत.उप. 3/1/2)

जा सकता, वीणा की सत्ता से ही वीणा के शब्द की सत्ता है, वैसे ही ये सब जो कुछ भी है, वह सब आत्मा है[1] अर्थात् उसी के कारण हैं।

विषयी और विषय, ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय एवं आत्मिक दोनों ही तत्त्व एकात्मक माने गये हैं। ब्रह्म ही आत्मा है अर्थात् वही समस्त शरीर की चैतन्य आत्मा है।[2] यह आत्मा, हमारे अन्तरस्तल में विद्यमान सत्तात्मक रूप से व्याप्त है। सान्त पदार्थों की श्रेणी में जीवात्मा के अन्दर यथार्थसत्ता का अंश उच्चकोटि में पाया जाता है। वह ब्रह्म जीवात्मा के हृदयाकाश में निवास करता है। वह अविनाशी, अन्तर्यामी तथा प्रकाशवान है।[3]

श्वेताश्ववरोपनिषद् में आलंकारिक शैली में जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि दो पक्षी मित्र भाव से एक पीपल के वृक्ष पर रहते हैं। इनमें से छोटा पक्षी (जीव) चुलबुला और चंचल है, वह फुदक–फुदक के थोड़ी देर में एक डाली से उड़कर दूसरी डाली पर जाता है और उनमें से प्रत्येक फल का रस लेना चाहता है। उसका रस पीकर आनन्दित होने के लिए कभी तो हरे फल पर मुँह मारने से जिव्हा कड़वी हो जाती है, तो कभी पके फल पर लगने से आनन्द विभोर हो जाता है। इस प्रकार सुख और दुःखरूपी अपने किये हुए कर्म के फल को भोगता और अपने कर्त्तव्य को भूल इन्हीं लालसाओं में बंध जाता है। यह छोटे पक्षी (जीव) की दशा है।

बड़ा पक्षी शान्त, एकरस अपनी गम्भीर मुद्रा में बैठा हुआ यह सब तमाशा देखता है। वृक्ष

1. आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। (बृह.उप. 2/4)
2. भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्त्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। वदब्रह्म। स आत्म। (तै.उप. 1/5)
3. स य एषाटन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नय पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। (तै.उप. 1/6)

क्या है? फल क्या है? और इनके खाने वाले की कैसी—कैसी दशा होती है? इन सब बातों का उसे पूरा ज्ञान होता है। वह छोटे पक्षी को भी अपनी तरह पूर्णज्ञानी बनाना चाहता है। यह बड़ा पक्षी ही ब्रह्म व परमात्मा है और छोटा पक्षी जीव है। परमात्मा न कर्म करता है, न भोक्ता है, वह सबसे अलग—थलग केवल द्रष्टा बन सबको देखता रहता है।[1]

कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है कि जीवात्मा में समक्ष दो प्रकार के मार्ग होते हैं— (1) श्रेय मार्ग (2) प्रेय मार्ग। श्रेय मार्ग कल्याण करने वाला और ब्रह्म के समीप ले जाने वाला है और प्रेय मार्ग प्रारम्भ में प्रिय लगने वाला और सांसारिक विषय भोगों में ढकेलता है। जो व्यक्ति इस मार्ग पर चलना स्वीकार करता है, वह वास्तविक लक्ष्य से गिर जाता है।[2]

जीवात्मा के सामने एक ओर अमृत है, दूसरी ओर जगत्। ये दोनों टकरा न जायें और इनको एक—दूसरे से सम्बन्ध बना रहे, इसलिए आत्मारूपी पुल तैयार कर दिया गया है।[3] जब जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति को स्वरूपतः पृथक्—पृथक् जान लेता है, ऐसा मनुष्य शरीर त्यागने के पश्चात् उसके शरीर की प्रत्येक वस्तु अपने—अपने सम्बन्धित स्वरूपों में विलीन हो जाती है। शरीर की पन्द्रह कलायें, सभी इन्द्रियों के देवता अपने—अपने स्वरूप में जाकर स्थित हो जाते हैं। उसके सभी कर्मों का फल भुने हुए बीज की तरह पुनः प्राप्त नहीं होता है।

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (श्वते.उप. 4/6)
2. अन्च्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ्सिनीतः।
   तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रयो वृणीते।। (क.उप. 2/2/1)
3. अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय।
   नैतँ्सेतुमहोरात्रे परतो...... दुष्कृतँ् सये...... ह्येष ब्रह्मलोकः। (छा.उप. 8/4/1)

विज्ञानमय आत्मा उस परमतत्त्व में मिलकर एक हो जाते हैं अर्थात् वह पूर्ण रूप से ब्रह्म में लीन हो जाता है।

3. सृष्टि प्रक्रिया

प्रथम सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ? किसके आधार पर सभी जीवित रहते हैं और किसके नियन्त्रण में रहकर सुख–दुःख भोग रहे हैं? ऐसी समस्या पर ब्रह्मविदों ने विचार करके सृष्टि उत्पत्ति का मूल कारण ब्रह्म को माना है।[1] उस ब्रह्म ने कामना की कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ। उन्होंने तप किया। तप करने के पश्चात् उसने इस सृष्टि की रचना की। उन सबकी रचना करके वह उनमें स्वयं ही प्रवेश कर गये। जिन वस्तुओं के विषय में कहा जा सकता है अथवा नहीं कहा जा सकता – ऐसे रूप में भी हो गये। आश्रय युक्त अथवा आश्रय से रहित रूप में भी वही हो गये। वही ब्रह्म चैतन्यरूप और जड़रूप में हो गये। यह जो कुछ भी गोचर और अगोचर रूप में सृष्टि की रचना है, उन सबका सदैव एक रस रहने वाला सत्स्वरूप परमात्मा ही है।[2]

ऐतरेय उपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। सृष्टि से पूर्व इस संसार में एकमात्र परमात्मा ही था। उसी ने यह विचार किया कि लोकों की रचना करूँ। बस उसके एक संकल्प से ही द्यूलोक, अन्तरिक्ष लोक और मर्त्यलोक की रचना हो गई।[3] इन लोकों की रचना

---

1. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता–जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
   अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।। (श्वेत. उप. 1/1)
2. सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा
   इदँ सर्वसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्टवा...... चानिरूक्तं च। (तै.उप. 2/7)
3. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत। स इक्षत लोकान्नु सृजा इति।
   स इमाल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमायोऽदोऽम्थः परेण दिवं धौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं
   पृथिवी मरो या अधस्ताता आपाः। (ऐत.उप. 1/1/1, 2)

करके स्वयं ब्रह्म इनमें विराजने लगा। वह ब्रह्म रूप रहित होकर रूप वाला हो गया। अभोक्ता होता हुआ भी भोक्ता बन गया। परन्तु वह सब होता हुआ भी वह सबसे परे रहा।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि समस्त संसार उस परमात्मा से पैदा होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी नाभि से जाल के सूत्र को पैदा करती है तथा पुनः अपने में लीन भी कर लेती है, उसी प्रकार परमात्मा अपने में से यह समस्त चराचर जगत् को पैदा भी करता है, पुनः समय आने पर उन सबको आत्मसात् भी कर लेता है – अव्यक्त से व्यक्त पुनः उसी अव्यक्त में लीन। जिस प्रकार पृथ्वी में से अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ अपने बीजों में से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अपने कर्मों के अनुसार जीव समुदाय योनियों में उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर, बाल और रोयें अपने आप निकलते रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से समस्त संसार अपने आप उत्पन्न होता रहता है।[1]

4. **मोक्ष या मुक्ति**

उपनिषदों के अनुसार आत्मज्ञान की सर्वोच्च अवस्था मोक्ष प्राप्ति है। जिस प्रकार नदियां बहते–बहते अन्त में अपने नाम और स्वरूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती है, तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार परमात्मा को जान लेने पर जीवात्मा उस परमश्रेष्ठ ब्रह्म में मिल जाता है। अपना नामरूप पूर्णतया उसी मिला देता है।[2] उपनिषदों में जीवात्मा और ब्रह्म के एकाकार होने का वर्णन है। यथा–प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। प्रमादरहित होकर बाण

---

1. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि यथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। (मु. उप. 1/1/7)
2. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
   तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्।। (मु.उप. 3/2/8)

चलाना चाहिए। जो बेधन करने वाला है, बाण के ही समान हो जाता है एवं लक्ष्यरूपी ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।[1] आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है। यहाँ पर जीवात्मा और ब्रह्म में एकदम तदात्म्य का वर्णन किया गया है। इसी ऐक्य की अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मुक्तात्मा सर्वज्ञ और सर्वात्मा हो जाता है। वह सब पदार्थों में प्रविष्ट होता है। मुक्त अवस्था में आत्मा ब्रह्म के साथ अपनी एकता को इस प्रगाढ़रूप में अनुभव करती है कि वह अपने को संसार का स्रष्टा कहने लगती है। मैं विषयी हूं, मैं ही विषय हूं एवं दोनों ही हूं। मैं ही आदि अजन्मा हूं। मैं संसार एवं अमर देवताओं का केन्द्र बिन्दु हूं। जैसे सूर्य की किरण सूर्य में समा जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ एक होकर जीवन व्यतीत करता है।

5. ब्रह्मविद्या प्राप्ति के उपाय

कठोपनिषद् में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के उपाय का वर्णन यमराज के रहस्यपूर्ण शब्दों में मिलता है कि वह परमतत्त्व अर्थात् परमात्मा न तो भाषण से प्राप्त होता है अर्थात् शास्त्रों को पढ़कर तत्सम्बन्धी बातों को करने से नहीं मिल सकता और न बुद्धि–बल से ऊहापोह तर्कयुक्त सिद्धान्तों से मिल सकता है। वह तो उसी को मिलता है, जिसको वह स्वयं चुन लेता है। उसके लिए वह परमात्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देता है।[2]

---

1. धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। (मु.उप. 1/2/,2, 4)
2. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।। (क.उप. 2/2/23)

वह परमात्मा उस व्यक्ति को भी नहीं मिल सकता, जो बलहीन हैं अर्थात् साधन शक्ति से हीन हैं। न तो मनमाना आचरण करने वाले प्रमादी की भांति शास्त्रविधि के विपरीत तपस्या करने वाले को ही मिल सकते हैं। किन्तु जो विद्वान् शास्त्र के अनुसार बतलाये हुए उपायों के द्वारा यत्न में लगा रहता है, उसको ही यह विद्या प्राप्त होती है।[1]

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए साधक को हृदय में स्थित परमात्मा को भली–भांति जानना चाहिये, उसके जान लेने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। जिस प्रकार लकड़ी आदि पदार्थ अग्नि के उत्पत्ति स्थान होते हुए भी सदैव अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रयास करने पर ही प्रकट होती है, उसी प्रकार परमात्मा देह में प्रत्युत् ॐकार के साधन के फलस्वरूप प्रकट होता है।[2] जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी और अरणी में अग्नि छिपी रहती है और प्रयत्न करने पर ही प्रकट होती है, उसी प्रकार देह के हृदयाकाश में परमात्मा विद्यमान है, जो निरन्तर उसको ध्यानयोग द्वारा देखता है, वही उसको जान पाने में समर्थ होता है।[3]

6. उपनिषद् साहित्य का महत्त्व

उपनिषद् साहित्य का विश्व साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में सबसे सामान्य एवं प्रभावशाली

---

1. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात।
एतेरूपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।। (मु.उप. 3/2/4)
2. वघ्नेयथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिंगनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवैन देहे।। (श्वेत. उप. 1/13)
3. तिलैषु तैलं दधनीव सर्पिरावः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।। (श्वेत.उप. 1/15)

दर्शन उपनिषदों के आधार पर निर्मित हुआ है। वह उपनिषदों के वाक्यों को परम प्रमाण और चरम सत्य माना जाता है। उनको श्रुति कह कर उद्धृत किया जाता है।

उपनिषद् साहित्य में जीवन और जगत् सम्बन्धी रहस्यों का पूर्ण और सन्तोषजनक विवेचन मिलता है। विभिन्न देशों के विद्वानों ने उपनिषदों का अध्ययन कर उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उपनिषदों में मेधावी मानवों के वे अमूल्य विचार संगृहीत हैं, जो अन्य किसी देश के साहित्य में नहीं पाये जाते हैं।

भारत की सम्पूर्ण संस्कृति और विचारधारा उपनिषदों के विचारों से परिपुष्ट हैं। प्राचीन काल में उपनिषदें मानव जीवन की पथप्रदर्शक थीं। आज के युग में भी उपनिषदों को अत्यधिक सम्मान प्राप्त है। आधुनिक युग में मानव को यथार्थ जीवन का अर्थ समझाने और उचित प्रगतिशील मार्ग पर चलने के लिए पथ–प्रदर्शन कराती है। उपनिषदों में ब्रह्म और जीव अर्थात् जगत् के मूल तत्त्व और व्यक्ति के अपने नश्वर स्वरूप के विषय में विभिन्न प्रकार के वार्तालापों द्वारा व्याख्यान दिये गये हैं। यह निर्धारित किया गया है कि इन दोनों में क्या सम्बन्ध हैं? इसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी अनेक विषयों पर यथा – जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है? किस प्रकार उसको प्राप्त किया जाता है? विभिन्न प्रकार के गुरू–शिष्य संवादों द्वारा शिक्षा प्रतिपादित की गई है। भारतीय जीवन शैली के परम आधार यही उपनिषद् ग्रन्थ हैं।

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य जीवन का लक्ष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर वही आत्मस्वरूप होना और अनुभव करना है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप अजर, अमर, परमानन्द स्वरूप विभु आत्मा है। वह आत्मा समस्त विश्व में ब्रह्म नाम से व्याप्त है। विश्व

उसकी रचना है, उसके द्वारा ही चलित और नियन्त्रित है। उपनिषदों का सबसे ऊंचा गहन और निश्चित् सिद्धान्त यही है। ब्रह्म को सूक्ष्म रूप से व्यक्त करने वाले उपनिषद् वाक्य महावाक्य कहलाते हैं यथा – "मैं ब्रह्म ही हूँ", "यह आत्मा ब्रह्म है"। "वही तू है"। "सब कुछ ब्रह्म ही है"। इन महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि विश्व के कण–कण में ब्रह्म अपनी पूर्ण सत्ता और शक्तियों के साथ स्थित है, वही हमारा वास्तविक लक्ष्य है।

उपनिषद् ग्रन्थों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस संकुचित असत्य और दुखदायी दृष्टि से ऊपर उठकर आत्ममयी दृष्टि को प्राप्त करके तदनुसार व्यवहार करने पर मनुष्य के सब शोकों और दुखों का अन्त होकर परमतृप्ति और परमानन्द का अनुभव करने लगता है। वह संसार के सभी प्राणियों के साथ आत्मीयता, प्रेम, सहानुभूति का अनुभव करने लगता है।

उपनिषदों को मानव चेतना का सर्वोच्च फल कहा गया है। आज का मनुष्य विज्ञान के प्रकाश में ज्ञान और शक्ति के स्रोत का पता लगाने में लगा हुआ है। उपनिषदें शक्ति की महान् निधि है। वह जिस शक्ति का संचार करने में समर्थ हैं, वह ऐसी है कि सम्पूर्ण जगत् को पुनर्जीवन शक्ति और शौर्य प्रदान करने में समर्थ हैं। जगत् की समस्त जातियों, समस्त मतों और सभी सम्प्रदायों के दीन, दुर्बल, दुःखी और पददलित प्राणियों को पुकार–पुकार कर कह रही हैं कि – 'सभी अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त हो जाओ।' यह सबसे ऊंचा ज्ञान है, इसी को परा ज्ञान भी कहते हैं।

ऋषियों ने इस महान् ज्ञान को उपनिषदों के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है और उसमें गूढ़ रहस्यों को बड़ी सुगमता से समझा दिया गया है। उपनिषद् वेद का ज्ञान

काण्ड है। यह सदैव प्रकाशित रहने वाला वह दीपक है, जो मानव को सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आया है, और अन्त तक देता रहेगा।

उपनिषदें शाश्वत ज्ञान की अक्षय भण्डार हैं। यह वह ग्रंथ हैं, जो सत्य के द्वार को उन्मुक्त करते हैं। उपनिषदों की एक–एक वाणी में वह अमर तेज और वह शान्तिदायी आलोक है, जिसे पढ़कर, गुणकर और आचरण कर कितने ही सिद्ध, योगी और जीवनमुक्त बन गये। इनमें वर्णित विद्यायें कल्पना की ऊंची और मीठी उड़ान मात्र नहीं है, एक सभ्य एवं समुन्नत जाति की सहस्रों वर्षों की गहरी अनुभूतियों का इसमें रस घुला हुआ है और परमार्थिक दृष्टि से क्रियात्मक है।

इस प्रकार यदि देखा जाए तो उपनिषद् साहित्य के एक–एक वचन बहुमूल्य रत्न हैं। हिन्दू जाति के लिए ही गर्व की वस्तु नहीं है, प्रत्युत् मानव जाति के लिए गौरव की वस्तु हैं। मानवता की सीमा लांघकर ऊपर उठने की उनमें ऐसी–ऐसी युक्तियां बताई गई हैं, जो कभी व्यर्थ होने वाली नहीं हैं। एक सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक ने उपनिषदों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक अवसर पर कहा है– 'यह मुझे जीवन में शान्ति देती रही हैं, और मृत्यु के समय भी शान्ति देंगी। सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। ये उच्चतम बुद्धि की उपज है।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकसमूलर ने उपनिषदों के बारे में एक स्थल पर लिखा है– 'उपनिषद् वेदान्त का आदि स्रोत है और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्च भावना आने पर उच्चतम शिखर पर पहुंची हुई प्रतीत पड़ती है।

सहस्रों वर्षों से सरस्वती के ये आलोकमय प्रासाद अकिंचनता में भी कुबेर की समृद्धि अथवा भौतिक अभावों में भी आध्यात्मिक शान्ति की निधि लुटाते जा रहे हैं। इन्हें पाने वालों को कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है। कल्पद्रुम के नीचे पहुँच कर कामनाओं का उदय कैसे हो सकता है?

चतुर्थ अध्याय

ऐतरेयोपनिशद् में उपलब्ध दार्शनिक सामग्री

चतुर्थ अध्याय

ऐतरेयोपनिषद् में उपलब्ध दार्शनिक सामग्री

ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद वेद के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ पंचम और षष्ठ अध्याय से सम्पन्न होता है। द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ अध्याय में तीन खण्ड हैं। पांचवें में एक खण्ड, षष्ठ में एक खण्ड तथा इस प्रकार तीन अध्यायों और पांच खण्डों में यह उपनिषद् परिपूर्ण होता है। वस्तुतः उपनिषद् का प्रथम अध्याय ही अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करने वाला सर्वांग परिपूर्ण है। मानव के मन में प्रथम जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि सृष्टि से पूर्व क्या था? इसका उत्तर इस उपनिषद् में स्पष्ट और सरल रूप से इस प्रकार दिया गया है — जगत् के पूर्व प्रथम आत्म तत्त्व ही एक मात्र था और कुछ भी नहीं था।

तब उस आत्मतत्त्व ने विचार किया कि मैं लोकों को पैदा करूँ और फिर उसको रचकर उसकी रक्षा के निमित्त लोकपालों को उत्पन्न करने की इच्छा की अर्थात् लोकपालों का निर्माण किया गया। लोक और लोकपालों के निमित्त, अन्न निर्माण किया और यह सब साधन निर्माण करने पर भी चेतन के बिना यह सब साधन किसी भी प्रकार कार्य सम्पादन नहीं कर सकते। अतः परमेश्वर (चेतन आत्मतत्त्व) मस्तक को छिद्र कर उसके द्वारा पुरुष शरीर में प्रविष्ट हुआ।

दूसरे अध्याय में प्राणिमात्र की उत्पत्ति की प्रक्रिया और मनुष्य के तीन जन्म कह कर ईश्वर की दया से गर्भ में भी किसी को ज्ञान होता है इस प्रसंग में प्रसिद्ध वामदेव का दृष्टान्त उद्धृत किया गया है। मनुष्य अपनी जन्म प्रक्रिया के ज्ञान से सब सुख प्राप्त कर सकता है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मवेत्ताओं का आपस में आत्म विषयक विचार बताकर ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

1. आत्मा–परमात्मा

आत्मा के विषय में बताया गया है कि जिसकी शक्ति से मनुष्य रूप को देखता है, शब्द को सुनता है, गन्ध को ग्रहण करता है, वाणी बोलता है, मीठे या कड़वे स्वाद का ज्ञान प्राप्त करता है, वह शक्ति आत्मा है।[1] शरीर में आत्मा रहने तक ही सब इन्द्रियां अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं। जिस समय इस शरीर से आत्मा पृथक् होता है, उस समय से कोई इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। इसलिए कहा है कि जिससे इन्द्रिय अपना कार्य करने में समर्थ होती है, वह आत्मा है।

मनन शक्ति, ज्ञान, विज्ञान हृदय का प्रेम, मेधा, स्तुति, धैर्य, बुद्धि, संकल्प शक्ति, काम इच्छा आदि जो मनुष्य के व्यवहार से अनुभव होते हैं, वे सब के सब प्रज्ञान के ही रूप हैं। यह प्रज्ञान आत्मा का रूप है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है, प्रज्ञान ही आत्मा है[2] इसलिए शरीर में आत्मा रहने तक ज्ञान–विज्ञान आदि काम मनुष्य कर सकता है। आत्मा के पृथक् होने पर मनुष्य का शरीर केवल जड़ बन जाता है और संकल्प–विकल्प नहीं कर सकता।

यह ब्रह्म अथवा आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ही आत्मा है। वह ब्रह्म ज्ञान–विज्ञान रूप ब्राह्मण है। यह ज्ञान ही इन्द्र अथवा शत्रुनाश करने वाला क्षत्रिय है। यह ज्ञान ही प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालन करने वाले राज्य शासन का अधिकारी है। यह प्रज्ञान ही पंच महाभूत, स्थावर जंगम जो भी है, वह सब प्रज्ञान ही है। वह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। प्रज्ञान ही सब कुछ है।

---

1. कोऽयमात्मेति व्युमुपास्महे। कटरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरौति ये वा स्वादु चास्वादु च विजानाति। (ऐत. उप. 3/1/1)
2. यदेतद्व्रदयं मनश्चैतत्। संज्ञामाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवेतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। (ऐत. उप. 3/1/2)

ज्ञानी, शूरवीर, व्यापारी, व्यवहार करने वाले और कर्मचारी तथा सब पशु–पक्षी भी प्रज्ञा के ही रूप है। प्रज्ञान सब विश्व का आधार, प्रज्ञान ही मानवी प्रगति करने वाला है। मनुष्य का सर्वस्व प्रज्ञान है। इस प्रज्ञान से मनुष्य यहां के सब सुख प्राप्त कर सकता है और मोक्ष भी इसी के ज्ञान से प्राप्त हो सकता है।[1]

एक आत्मा ही जगत् (लोक) की रचना के पूर्व विद्यमान होता है। जब लोक का ही अस्तित्व नहीं होता, तो उसका नियन्ता लोकपाल कैसे हो सकता है। यह सभी प्रपंच अर्थात् प्रमाता प्रमेय उस अनादि आत्मा की द्वैत की इच्छा से ही पश्चात् में अस्तित्व में आते हैं।

2. लोक और लोकपाल

ऐतरेयोपनिषद् कहती है कि आदि अन्त रहित, अपरिमेय, स्वयंभू इस आत्मा से पहले और कुछ न था। सृष्टि नहीं थी, वही एक था, वह अनन्त था, न कोई रूप था, न नाम, न ज्ञान था, न अज्ञान, न संकल्प था, न विकल्प, न प्रकृति थी, न जीव ही था। उस समय केवल वह परमात्मा था, वही अनादि है। उसी ने यह विचार किया कि लोकों की रचना करूँ।[2] अतः उसके एक संकल्प से ही (अम्भ) द्यूलोक, (मरीची) अन्तरिक्ष, (मरम) मर्त्यलोक (आपः) जललोक अर्थात् पाताललोक की रचना हुई। अम्भःलोक में द्यूलोक, महःलोक, जनलोक और सत्यलोक कहे गये हैं। ये सब स्वर्ग से आगे के लोक हैं। मरीची में सूर्य, चन्द्र और तारागण आते हैं, जो प्रकाशवान

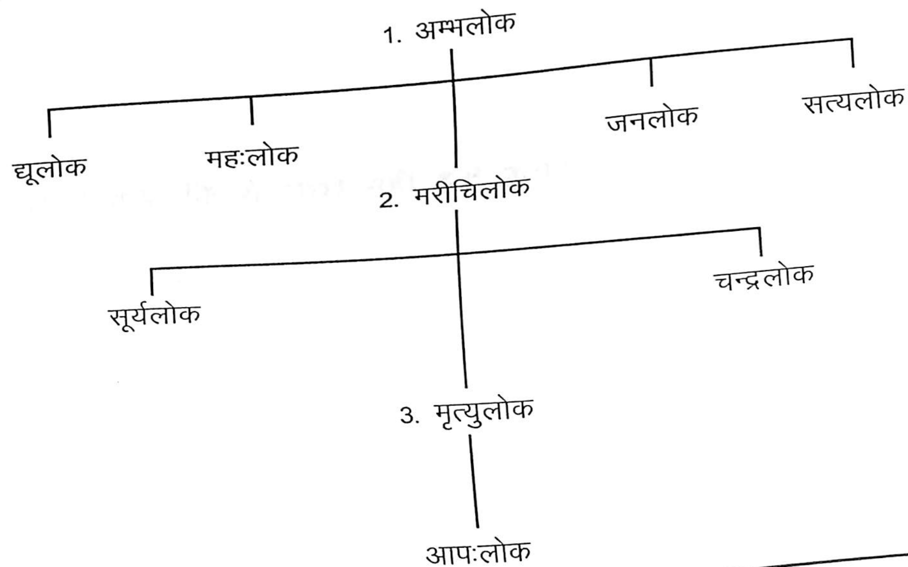
---

1. एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि....... च क्षुद्रमिश्राणीव वीजानीतराणि. ...... प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्व सर्वं ततप्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐत. उप. 3/1/3)
2. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐत.उप. 1/1/1)

है। ये स्वर्ग लोक कहे जाते हैं। उसके नीचे जो मरम नाम से मृत्युलोक या पृथ्वीलोक है, उसकी रचना हुई। फिर उससे नीचे जललोक, जिसे पाताल लोक कहते हें, इन सबकी रचना परमात्मा ने की।[1]

जब उस परमात्मा ने लोकों को बनाया, तब इन पर शासन करने के लिए लोकपालों का निर्माण किया गया। उसने उसी समय जल की एक मूर्ति का निर्माण किया। वह विराट् अर्थात् बड़ी अण्ड के समान थी।[2] उसने उस मूर्ति को तपाया। उसके तप जाने से उसमें मुख उत्पन्न हुआ, मुख से वह बोलने लगी। इस प्रकार उस अण्ड से आठ लोकपाल अस्तित्व में आये। वह अण्ड ब्रह्माण्ड जैसा विशाल था और उसमें आठ देवता रहने लगे। यही विराट पुरुष है।

3. लोकों का रचना क्रम



1. स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमायोऽदोम्भः परेण दिवं द्योः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो वा अधस्तात्ता आपाः। (ऐत. उप. 1/1/2)
2. स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य पुरुषं समुदध्रत्यामूर्छयत। (ऐत.उप. 1/1/3)

इस प्रकार यह लोक क्रमशः एक–दूसरे से नीचे हैं, सबसे प्रथम अम्भलोक अर्थात यह जल (मेघों) को धारण करने से अम्भलोक कहलाया। उससे नीचे किरणों से सम्बन्धित होने के कारण मरीचि लोक कहलाया। फिर उससे नीचे मरम अर्थात् जिसमें मरणशील प्राणी होते हैं, उसको मृत्युलोक अर्थात् पृथ्वीलोक कहते हैं। पृथ्वीलोक से नीचे आपःलोक आता है, इस लोक में जल अधिक होने के कारण यह आपःलोक कहा गया है।

4. देवताओं के लिए स्थान नियुक्ति

ये लोक एवं लोकपालों (देवताओं) की रचना होने के पश्चात् उनका स्थान, कर्त्तव्य, अधिकार एवं सामर्थ्य आदि के विषय में नियमन हेतु कार्य हुआ। क्योंकि ये देवता विश्व समुद्र में पड़कर भूख–प्यासादि से व्याकुल थे। तब इन देवताओं ने परमात्मा से कहा कि हमें कुछ स्थान प्रदान कीजिये ताकि जहाँ बैठकर हम आहार ग्रहण कर सकें।[1] परमेश्वर ने उन देवताओं के रहने के लिए गाय, बैल, घोड़ा आदि के शरीर बनाकर उनके सामने लाये। परन्तु उनको देखकर देवताओं ने कहा कि ये अच्छे नहीं है।[2] तत्पश्चात् परमात्मा ने मनुष्य शरीर बनाकर दिखलाया तब उन्होंने कहा यह बड़ा ही सुन्दर है परमेश्वर ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो आप इसमें अपने योग्य स्थान पर जाकर रहो। वे देवता सूक्ष्मरूप धारण करके मानव शरीर में रहने लगे। इस प्रकार इन्द्रिय देवता अस्तित्व में आये।

---

1. ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्याम् अन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं न प्रजानीहि यस्मिन प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति। (ऐत.उप. 1/2/1)
2. ताभ्यो गामानयत्ता अब्रवन्न वै नोऽमयलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रवनन वै नोऽयमलमिति। (ऐत.उप. 1/2/2)

5. इन्द्रिय देवता

चूंकि इस प्रकार मानव शरीर में ब्रह्म अंश और देवों के अंश है। अतः यह शरीर देवताओं का मन्दिर है। यह दिव्य शक्तियों का अधिष्ठान है। शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय में भिन्न–भिन्न देवता का निवास है। जैसे – वाणी के स्थान में अग्नि देवता का निवास है, नासिका से प्राण और प्राण के स्थान में वायु देवता रहने लगे, नेत्र इन्द्रिय में सूर्य देवता का निवास स्थल है, कर्णेन्द्रिय से दिशाएं हुईं। वायु से त्वचा की निर्माण हुआ। उस त्वचा में रोम हुए और वहाँ से वनस्पतियाँ बनीं। हृदय बना, हृदय से मन और मन में चन्द्रदेव का स्थान नियत हुआ। नाभि निर्माण हुई, नाभि से अपान और अपान में मृत्यु देवता रहने लगे। शिश्न हुआ वहाँ पर जलदेवता का स्थान नियुक्त किया गया है।[1]

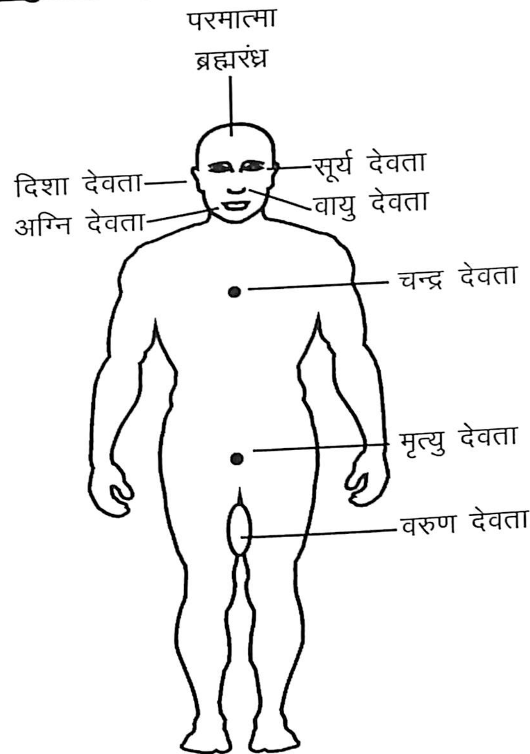
इसी प्रकार का वर्णन हमें आगम शास्त्र में भी मिलता है। भगवान शिव पार्वती से शरीर के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे प्रिय यह शरीर सभी देवों का रूप है। अपनी कठोरता के कारण यह पृथ्वी कहलाता और द्रवत्व के कारण जल।[2]

कई लोक उस शरीर की हीन, दीन, तुच्छ, पिंजरा, काराग्रह, पूयविट, मूत्र का गढ़ा आदि करके निंदा करते हैं परन्तु इस विषय पर आगम और निगम दोनों शास्त्रों का एक मत है कि इस मानव शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों में भिन्न–भिन्न देवताओं का निवास है। यह मनुष्य शरीर उस परमात्मा की अनूठी कृति है, यह सुकृत है यह पुण्य कर्म करने का उत्तम साधन है। शरीर को देवतामय बताकर प्राणिमात्र को उत्तम ज्ञान दिया है।

---

1. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो....... श्रोत्रं भूत्वा कर्णो प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो....... नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्रानिशन् (ऐत.उप. 1/2/4)
2. सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं श्रृणु प्रिये।
   पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्। (त्रि.शि. 2/10)

6. ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार मनुष्य शरीर के अवयवों में देवताओं का स्थान



परमात्मा ने मनुष्य शरीर की रचना करने के बाद उसमें विभिन्न देवताओं को भिन्न–भिनन अंगों में निवास करने आदेश दिया और देवता ऐसा आदेश पाकर शरीर के विभिन्न स्थानों में वे सुखपूर्वक रहने लगे। वास्तव में यह मनुष्य शरीर देवताओं का सुन्दर निकेतन है।

7. लोकपालों के लिए आहार की व्यवस्था

परमात्मा ने लोक और लोकपालों की सृष्टि करने के पश्चात् पुनः विचार किया कि इनके निर्वाह के लिए भोग–पदार्थों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। क्योंकि इनके साथ पैदा होते ही भूख और प्यास की रचना की गई है।[1] यह सोच कर भगवान ने अन्न की सृष्टि करने का निश्चय किया। उस परमात्मा ने जल को तपाया, उससे एक मूर्ति बनी। उसी से लोकपालों (देवताओं) के लिए अन्न–भोग्य–पदार्थ बना।[2]

1. स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालश्चान्नमेभ्यः सृजा इति। (ऐत.उप. 1/3/1)
2. सोऽपोऽश्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्। (ऐत. उप. 1/3/2)

8. अन्न का पलायन और उसके ग्रहण का उद्योग

उत्पन्न हुए उस अन्न ने यह सोचकर कि ये सब मुझे ही खाने वाले हैं और ये मेरा विनाश कर डालें, ऐसा सोचकर छुटकारा पाने के लिए भागना शुरू कर दिया। तब मनुष्य के रूप में उत्पन्न जीवात्मा ने उसे वाणी से पकड़ना चाहा। लेकिन वाणी उसे पकड़ने में असमर्थ रही। यदि वाणी उसे पकड़ लेती, तो आज मनुष्य केवल अन्न का नाम लेकर तृप्त हो जाया करता। खाने की आवश्यकता नहीं होती।[1]

तब मनुष्य ने अन्न को घ्राण इन्द्रिय के द्वारा पकड़ने का प्रयत्न किया, लेकिन वह नहीं पकड़ा जा सका। नहीं तो आज भी केवल सूंघनेमात्र से भूख मिट जाती।[2] तब उसने अन्न को आंखों से पकड़ना चाहा, लेकिन आंखें उसे पकड़ने में असफल रहीं। यदि ऐसा हो जाता, तो मात्र भोग पदार्थों के देखने से ही तृप्ति हो जाया करती।[3] तब उस पुरुष ने कर्णेन्द्रिय द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, किन्तु कान उसे न पकड़ सके। अन्यथा सुन लेने से ही भूख मिट जाती।[4] असफलता मिलने पर उसने त्वचा के द्वारा अन्न को ग्रहण करने की इच्छा की, किन्तु त्वचा उसे पकड़ने में समर्थ नहीं हो सकी। यदि वह अन्न को त्वचा से पकड़ सकता, तो अवश्य ही केवल अन्न को स्पर्श करके ही तृप्त हो जाता।[5]

---

1. तदेनत् सृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। यद्धैनद्वाचाग्रहैव्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत. उप. 1/3/3)
2. तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/5)
3. तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवाननमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/5)
4. तच्छोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रण ग्रहीतुं स यद्धेनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/6)
5. तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/7)

तब उस मनुष्य ने असफलता पर असफलता के हाथ लगने पर मन के द्वारा पकड़ने की कोशिश की, किन्तु मन के द्वारा भी उसे पकड़ने में समर्थ नहीं हो सका। यदि मन के माध्यम से पकड़ सकता, तो अवश्य ही अन्न का ध्यान करके तृप्ति को प्राप्त कर लेता।[1] इसी प्रकार एक बार पुनः उसने अन्न को लिंगेन्द्रिय द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, किन्तु उसे वह लिंग द्वारा पकड़ने में असमर्थ रहा। यदि वह लिंग के द्वारा से पकड़ सकता, तो मल–मूत्रादि त्याग कर ही सन्तुष्ट हो जाया करता।[2]

9. अपान द्वारा अन्न ग्रहण

तब उस पुरुष ने अपानवायु द्वारा मुख से शरीर में उसे प्रविष्ट कराने की चेष्टा की, तब वह इस प्रयास से अन्न को शरीर में ले जा सका। यह अपानवायु ही शरीर के भीतर श्वास (Inhalation) के रूप में जाता है। यही अन्न को भीतर ले जाने वाला है। जो वायु अन्न से जीवन की रक्षा करने वालों के रूप में प्रसिद्ध है। यह वही अपान वायु है।[3]

10. आत्मा का शरीर में प्रवेश

ऐतरेयोपनिषद् में परमात्मा ने कहाँ से शरीर में प्रवेश किया। इसका सुन्दर विवेचन मिलता है। उस परमात्मा ने विचार किया कि मेरे बिना यह पुरुष शरीर कैसे रहेगा? उसने यह भी विचार किया कि किसके द्वारा इसमें प्रवेश करना चाहिए। उसने सोचा कि यदि इसने स्वयं वाणी द्वारा बोल लिया, प्राण द्वारा श्वास–प्रश्वास ले लिया, आंखों द्वारा देख लिया, कानों द्वारा

1. तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोनमनसा ग्रहीतुं स यद्वैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यातवा हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/8)
2. तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्वैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। (ऐत.उप. 1/3/9)
3. तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहोयंद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायु। (ऐत.उप. 1/3/10)

सुन लिया, त्वचा द्वारा स्पर्श कर लिया, मन के द्वारा सोच लिया, अपान वायु द्वारा अन्न ग्रहण कर लिया, शिश्न द्वारा वीर्य एवं मूत्र त्याग लिया अर्थात् उपर्युक्त समस्त क्रियायें यदि पुरुष ने स्वयं ही कर लीं, तो फिर मेरी सत्ता का उपयोग ही क्या रह जाएगा?[1] इसलिए मुझे इस मनुष्य शरीर के पैर या मस्तिष्क इन दो भागों में से किसी एक से प्रवेश करना चाहिए।

वह परमात्मा मनुष्य के कपाल की सीमा अर्थात् चोटी को विदीर्ण करके उसी मार्ग के द्वारा उस शरीर में प्रवेश कर गये। इसी से वह स्थान 'विदृति' नाम से जाना जाता है अर्थात् मानव शरीर में परमात्मा के प्रवेश करने का यही द्वार है, जो 'विदृति' नाम से जाना जाता है। यह आनन्द उसे ब्रह्मरन्ध्र भी कहा जाता है। उस परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले तीन स्थान हैं और तीन स्वप्न हैं। इनमें से एक तो हृदय–देश है, दूसरा विशुद्ध आकाश रूप परमधाम है। तीसरा यह समस्त ब्रह्माण्ड ही परमात्मा का निवास स्थान है। सृष्टि की स्थूल सूक्ष्म और कारण दशायें ही उस परमात्मा के तीन स्वप्न हैं।[2] वह आत्मा मस्तक के विदृतिद्वार से प्रवेश करके जीवात्मा को आधार देकर रहने लगी।

मनुष्य रूप में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने भौतिक जगत् की रचना को बड़े आश्चर्य से देखा और मन ही मन कहा – इस विचित्र संसार की रचना करने वाला दूसरा कौन है। ऐसा विचार करते ही उसने अन्तर्यामी परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन किया।[3] इस प्रकार मनुष्य शरीर में

---

1. स ईक्षत कथंन्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि...... प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा...... त्वचा स्प्टष्ट यदि मनसा...... शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति। (ऐत.उप. 1/3/11)
2. स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथस्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति। (ऐत.उप. 1/3/12)
3. स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिती। (ऐत.उप. 1/3/13)

उत्पन्न हुए पुरुष ने परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया। इसलिए परमात्मा का नाम "इन्द्र" (इसको मैंने देख लिया) पड़ गया। यद्यपि प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने पर परमात्मा का नाम "इदन्द्रः" है, लेकिन लोक उन्हें परोक्ष भाव से 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं क्योंकि देवता लोग मानों परोक्ष भाव से कही बात को पसन्द करते हैं।[1]

11. **मनुष्य के तीन जन्म**

मनुष्य के तीन जन्मों का विवरण इस प्रकार है :—

12. **मनुष्य की तैयारी**

यह संसारी जीव पहले—पहल पुरुष शरीर ही में वीर्यरूप से प्रकट होता है। यह वीर्य शरीर के सब अंगों से निकलकर उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। पिता में जो वीर्य होता है, वही पिता के शरीर में गर्भ है, वह वीर्य स्त्री में जाता है। वह उस पिता का पहला जन्म है।[2] अर्थात् सुप्रजा निर्माण करने की प्रथम तैयारी पिता से ही आरम्भ होती है। जैसा शरीर विज्ञान यह बताता है कि अन्न से रक्त, रक्त से मांस, मांस से हड्डियाँ, हड्डियों से मज्जा तत्पश्चात् मज्जा से वीर्य, वीर्य से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से अहं बनते हैं। इस प्रकार निर्दोष, तेजस्वी, प्रभावी और ओजस्वी वीर्य संग्रह पुरुष का पहला जन्म उपनिषद्कार ने माना है। पिता को यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह पुत्र होना मेरा ही जन्म है। इसलिए मैं जैसी अपनी योग्यता प्राप्त करूंगा, वैसा ही मेरा पुत्र होगा अर्थात् मैं ही पुत्ररूप से जन्म लूँगा। प्रत्येक

---

1. तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः। (ऐत.उप. 1/3/14)
2. पुरुष ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिंचत्यथैनंजनयति तदस्य प्रथमं जन्म। (ऐत.उप. 2/1/1)

पिता को यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पुरुष के वीर्य में अन्तःकरण समेत सभी देवों का सार रहता है। अतः यदि पिता रोगी, निर्बल निर्बुद्ध, संस्कारहीन होगा, तो उसके वीर्य में वैसे दोष आ जाएंगे और पुत्र भी उन्हीं दोषों से ग्रसित होगा।

13. स्त्री का महत्त्व

इसके पश्चात् वह वीर्य स्त्री के गर्भ में जाता है। वह वीर्य उसके आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उस स्त्री के जैसे और अंग होते हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी उसके शरीर का अंग बन जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उदर में रहता हुआ भी गर्भिणी को भार स्वरूप प्रतीत नहीं होता। वह स्त्री अपने शरीर में आए हुए पति के आत्मारूप गर्भ को अपने अंगों की भांति ही भोजन रस से पुष्ट करती है।[1]

माता के शरीर और अन्तःकरण के सब दोष इस समय सन्तान में उतरते हैं। इस कारण माता को भी सुशील, सदाचार युक्त धार्मिक और सत्यवृत्त होना चाहिए। तथा शरीर से हृष्ट–पुष्ट होना चाहिए। इसलिए इस उपनिषद् में कहा गया है कि वह स्त्री गर्भ का पोषण करती है। इसलिए उस स्त्री का पोषण अच्छी तरह से होना चाहिए।[2] क्योंकि यह राष्ट्र की सन्तान है, यह वंश विस्तार के लिए है, जो विश्वरूपी कपड़ा बनाया जा रहा है, उसमें एक धागा यह है। यह वंश का तन्तु टूटना नहीं चाहिए। अविच्छिन्न वंश रहना चाहिए। यही अमरपन है। शास्त्रकारों ने वीर्य अभिषेक के समय और उस समय के विचारों की बड़ी महत्ता बताई है।

---

1. तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमंङ्ग तथा।
   तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमगतं भावयति। (ऐत.उप. 2/1/2)
2. सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं विभर्ति। (ऐत.उप. 2/1/3)

उनका मत है कि जो प्रार्थना के द्वारा जन्म पाता है, वह आर्य है और जिनका जन्म कामुकता से होता है, वह अनार्य है।

14. प्रजा से अमरतत्व

प्रजा के, सन्तति के, अविच्छेद्य से ही अमरत्व है।[1] यह स्त्री के द्वारा ही होने वाला है। इसलिए गर्भ धारण करने वाली स्त्री के खान–पान, रहन–सहन तथा समुचित विश्राम की देखभाल पूर्णरूप से होनी चाहिए। स्त्री न होगी तो पुरुष शरीर के वीर्यरूप गर्भ का पुरुष शरीर में ही नाश हो जाएगा। इससे तो पुरुष की सन्तति परम्परा का धागा ही टूट जाएगा। पुरुष में वह शक्ति नहीं है, स्त्री ही सन्तान परम्परा चला सकती है।

इसीलिये प्रजातन्तु को नहीं तोड़ना चाहिये ऐसी आज्ञा है।[2] उसका पालन स्त्री के साथ रहने से ही हो सकता है। अमोघ शक्ति वाला पुत्र उत्पन्न करना चाहिए। इससे पितृऋण चुकाना चाहिए। ऋण होकर ही मरना चाहिए।

स्त्री अपने गर्भ में अपने पति को ही धारण करती है। इसलिए पति गर्भवती पत्नी का पालन–पोषण करके मानो अपना पोषण करता है। गर्भवती स्त्री का सम्मान करना और उसका पालन–पोषण, यह कोई स्त्री पर उपकार नहीं है, यह पिता अपना ही पालन–पोषण करता है।[3] क्योंकि इससे पिता का प्रतिनिधित्व पुत्र बढ़ता है।[4] वास्तव में पुरुष ही पुनः सन्तान रूप में स्त्री

---

1. प्रजामिः अग्ने अमृतत्वं अश्यां (ऋ. 5/4/10)
2. प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी (तै.उप. 1/11)
3. स यत्कुमारं जन्म नोऽग्रेऽधिभावयति, आत्मानमेव तत् भावयति, एषां लोकानां संतत्सा। (ऐत.उप. 2/1/3)
4. सोऽस्य अयं आत्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते (ऐत. उप. 2/1/4)

के उदर में प्रवेश करता है और जन्म लेता है। "आत्मावै पुत्र नामा आसि"। इसलिए स्त्री को जाया भी कहते हैं। यह पुरुष का दूसरा जन्म है।[1]

15. कृतकृत्य पिता

पुत्र अपने पिता की ही आत्मा होता है। इसीलिये जब पिता पुत्र को विद्वान और पुरुषार्थी हुआ देखता है, तो उस समय उसको प्रतीत होता है कि यह मेरा उत्तम प्रतिनिधि तैयार हुआ है। मेरे सभी कार्य निर्विघ्न रीति से सम्पन्न होते रहेंगे। ऐसे सुयोग्य पुत्र को देखकर अपने आप को कृतकृत्य मान लेता है। कृतकृत्य होकर पूर्ण आयु को प्राप्त हुआ इस लोक से चल बसता है। पूर्ण आयु को भोगना और कृतकृत्य होने का भाग्य उसी पिता को प्राप्त हो सकता है, जिसका सुयोग्य पुत्र होगा। इस उपनिषद् में दो बार अमर होने का उल्लेख है, एक पुत्र का उत्पन्न होना और दूसरा उसकी योग्यता को देखकर। यह भाव स्पष्ट है कि जिसको ऐसा सुयोग्य पुत्र होगा, वही भाग्यशाली पिता इस तरह की कृतकृत्यता का अनुभव कर सकता है। मरने के उपरान्त पिता को जो दूसरा शरीर मिलता है, वह उसका तीसरा जन्म है।[2]

16. सन्तान के पालन–पोषण की उचित व्यवस्था

सन्तान का लालन–पालन आरम्भ होता है। मां उसे अपना स्निग्ध स्नेह प्रदान करती है और पिता उसके हर प्रकार की व्यवस्था का उचित देखभाल करता है। सन्तान का पोषण यथा सम्भव उत्तम होना चाहिए। इसकी पूरी चेष्टा की जाती है। इसलिए कि इससे

---

1. एवं संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितियं जन्म। (ऐत.उप. 2/1/3)
2. अथास्यायमितर आत्मा कृतकृतयो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। (ऐत.उप. 2/1/4)

ही प्रजा की वृद्धि होती है। यह समाज, देश और राष्ट्र की निधि है। यह ही भावी कर्णधार होंगे, इसलिए मां उसे अपनी ही तरह अपना सर्वोत्तम देकर पालन करती है।

बालक बड़ा होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। पिता अब उसे सन्मार्ग पर लगाने के लिए अनेक उपाय करता है। अनेक प्रकार की शिक्षा–दीक्षा का प्रबन्ध होता है।[1] सुयोग्य पुत्र पिता की अपूर्ण सारी आशा, अभिलाषा को पूर्ण करता है। यश प्राप्त करता है, वंश की वृद्धि करता है। जाति और राष्ट्र की मर्यादा को ऊँचा उठाता है। इसी प्रकार यह परम्परा जन्मजन्मान्तर में चलती रहती है।

यह उपनिषद् विद्या सन्तान का उच्छेद करना नहीं चाहती, प्रत्युत् वंश का विस्तार हो और वंश में उत्तम से उत्तम दृढ़िष्ट और बलिष्ठ पुरुष निर्माण हो ऐसी उपनिषद् की आज्ञा है। ऐतरेय उपनिषद् ने इस सत्य को भी बड़ी निपुणता से उद्धृत किया है कि जैसा बीज होगा – वैसा ही वृक्ष होगा – उसमें सब गुण बीज के आते हैं अर्थात् मनुष्य जन्म लेने के पश्चात् उसके बहुत कुछ कर्म उसी से प्रेरित होते हैं, जिसे वह साथ लाया है। इसी प्रकार पुरुष शरीर के सब गुण वीर्य–बिन्दु में आते हैं और फिर वह ही उस वीर्य–बिन्दु से होने वाले शरीर में विकसित होते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का कितना बड़ा दायित्व है। इस देश ने जिस मूल की खोज की, वह प्रायः लुप्त हो चली है। उनकी और ध्यान न देकर आज मूल की अपेक्षा पल्लव की देखभाल की जा रही है। उसे सम्भालने और व्यवस्थित करने के उपाय किये

---

1. सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या। (ऐत.उप. 2/1/3)

जा रहे हैं जो निर्मूल हैं। इसके लिए जीवन की उसी शुद्धता तथा विचारों की पवित्रता को अपनाना होगा, जिसका प्रतिपादन हमारे प्राचीन ऋषियों ने किया है।

17. वामदेव का शुभाशुभ गति विषयक प्रसंग

संसार में उत्पन्न हुआ जीव जन्म–मरणरूप परम्परा पर आरूढ़ हुआ सम्पूर्ण लोकरूपी भवसागर में पड़ा–पड़ा जिस किसी अवस्था में भी आत्मा को जान लेता है, उसी समय वह सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। यही बात ऋषि वामदेव ने भी कही है– "मैंने गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। तत्त्वज्ञान होने से पूर्व मुझे सैकड़ों लौहमय शरीरों ने अवरुद्ध किया हुआ था। अब तत्त्वज्ञान के प्रभाव से मैं बाज पक्षी के समान बाहर निकल आया हूं। वामदेव ने गर्भ में शयन करते समय ही ऐसा कहा था।[1]

इस प्रकार जन्म–जन्मान्तर के तत्त्व को समझने वाले ऋषि वामदेव इस शरीर के नाश होने पर संसार के ऊपर उठ गए और ऊर्ध्वगति द्वारा उस परमधाम को पहुंचे, जहां अजर, अमर, अमृत, अभय, सर्वज्ञ, अपूर्व अनन्य और एकमात्र प्रज्ञानामृतस्वरूप में स्थित होकर अमृत हो गये।[2]

18. प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा

जीव वैसे तो ब्रह्म का ही स्वरूप है, कोई अन्तर नहीं है, परन्तु जब तक उसे अपने ब्रह्म

---

1. गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो अवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानेवामदेवो एवमुवाच। (ऐत.उप. 2/1/5)
2. स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गेलोके सर्वान्कामानप्त्वामृतः समभवत्समभवत्। (ऐत.उप. 2/1/6)

स्वरूप का भान नहीं होता, तब तक जीव रूप में रहता है। इसी कारण जब तक यह जीव इन शरीरों के साथ एक हुआ रहता है, शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है। तब तक छुटकारा नहीं होता। इसको बार–बार नाना योनियों में जन्म लेकर नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इस रहस्य को महर्षि ज्ञानी वामदेव ने गर्भ में ही समझ लिया था।

परमात्मा और जीव दोनों में यही अन्तर है कि एक की आत्मा सदैव ज्ञान से पूर्ण है, उसमें अज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है। वास्तव में वही 'प्रज्ञान' ब्रह्म है और उसी को प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा कहा जाता है। प्रज्ञान का अर्थ ही है कि जो विशेष ज्ञान है, वही ब्रह्म है और उसी की उपासना करनी चाहिए। यह उपासना सच्चे ज्ञान की है।

जैसे कहा जाता है "हाथों से सुन्दर लिखता है", "उसके नेत्र खूब देखते हैं", परन्तु थोड़ा सोचने से पता चलता है "क्या हाथ लिखते हैं?" यदि हाथ लिखते, तो अनपढ़ भी लिख लेता। परन्तु वह नहीं लिख सकता। यदि नेत्र ही देखते होते, तो उस बालक की भांति अनपढ़ बालक भी पुस्तक पढ़ लेता, क्योंकि नेत्र दोनों के एक से हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारे अन्तर में लिखने वाला कोई और है। इसी प्रकार इन्द्रियों में जो भी शक्ति है, ब्रह्म ही की है।

मन की संकल्प शक्ति जो एक पल में लाखों मील का पता लाती है। बुद्धि की निश्चय करने की अपूर्व शक्ति, स्मरण शक्ति, प्राण शक्ति जो भी हमारे शरीर में काम कर रही है, वे सब ब्रह्म की शक्तियां हैं। वह सत्ता ही प्रज्ञान ब्रह्म की है। वह ब्रह्म जो सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, नित्य निरंजन, निर्मल, निष्क्रिय, शान्त, एक और अद्वितीय है[1], जिसको सभी नेति–नेति

---

1. तदेतत्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं सन्निरंजनं निर्मलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयं नेति नेति इति। (बृह.उप. 3/1/26)

कहकर चुप हो जाते हैं। इसे कोई अग्नि बतलाते हैं तथा कोई मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं।[1]

अतः सबको उत्पन्न करने वाला सबको सब प्रकार की शक्ति देने वाला, सबकी रक्षा करने वाला, स्वच्छ ज्ञान स्वरूप परमात्मा ही हैं, वही ही ब्रह्म है, इन्द्र है। वह ही सबकी उत्पत्ति और पालन करने वाले समस्त प्रजाओं के प्रजापति है। ये चार प्रकार के जीव, चौरासी लाख योनियाँ, सभी दृश्य जगत्, उस प्रज्ञान ब्रह्म ही की एक शक्ति से शक्तिवान् है। इन सबकी स्थिति का आधार प्रज्ञान ब्रह्म ही है।

जिसने उस प्रज्ञान स्वरूप परमेश्वर को जान लिया, वह इस लोक से ऊपर उठकर उस परमधाम में उस प्रज्ञान स्वरूप ब्रह्म को पाकर अमर हो गया और सदा के लिए जन्म–मृत्यु से छूट गया।[2]

---

1. एतमेके वदन्त्याग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। (मनु. 12/123)
2. स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत्। (ऐत.उप. 3/1/4)

पंचम अध्याय

उपसंहार देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र एवं ऐतरेयोपनिषद् के तथ्यों का विश्लेषण

पंचम अध्याय

उपसंहार देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र एवं ऐतरेयोपनिषद् के तथ्यों का विश्लेषण

आगम शास्त्र के अनुसार परमशिव पांच कृत्य करते हैं। उनके नाम हैं – सृष्टि, स्थिति, संहार पिधान और अनुग्रह।[1] प्रमेय रूप में अन्तः स्थित अर्थसमूह को बाह्य अवभासित करने की क्रिया को सृष्टि कहते हैं। बाह्य अवभासित प्रमाता–प्रमेयादि को उस रूप में कुछ काल पर्यन्त बनाये रखना स्थिति क्रिया कहलाती है। विश्व को कुछ काल स्थित रखने के पश्चात् इसे पुनः अन्य देश, काल एवं आकार में प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय को अवभासित करना संहार कृत्य कहलाता है। वास्तव में जीव शिवरूप है और सम्पूर्ण जगत् उनसे अभिन्न है, परन्तु उसे अभिन्न न मानकर भिन्न–भिन्न रूप में समझना ही शिव का पिधान (विलय, तिरोधान) कृत्य कहलाता है।

शिव के अनुग्रह से पुनः शिवरूपता का अनुभव करना एवं सम्पूर्ण जगत् को अभिन्नरूप से जानना अनुग्रह कृत्य कहलाता है।

जीव दशा में वह देश, काल और आकार की कल्पित सीमाओं में बंधकर अपने आपको सीमित जैसा प्रकट कर देता है। जीव द्वैतभाव का अवभासन करता हुआ अपने आपको शिव से और अन्य जीवों से तथा प्रमेय रूप संसार से पृथक् समझने लगता है। शिव ही तत्त्व, भाव और प्रमाताओं के रूप में प्रकाशित होता है।[2] अतः भगवान् शिव ही सम्पूर्ण विश्व शरीर है। इसी

---

1. नमः शिवाय सततं पंचकृत्यविधायिने।
   चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने।। (प्र.हृ. पृ. 1)
2. तत्त्वभुवनभाव ऋः तत्तत्प्रमात्राद्यात्मया पि प्रथते। यथा एवं भगवान विश्व शरीर...... ग्राहकोऽपि बटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः। (प्र.हृ., पृ. 45, 46)

प्रकार चिति (परमसत्ता) का संकोचरूप चेतन जीव भी संकुचित रूप में विश्वमय ही होता है। जैसे वट वृक्ष संकुचित रूप में अपने बीज में रहता है। एक शरीर और शरीरी में सब शरीरों का अन्तर्भाव है।[1]

त्रिशिरोमत में शिव पार्वती से कहते हैं कि जीव शरीर सभी देवताओं का प्रतिरूप है अर्थात् इसमें सभी देवता निवास करते हैं। कठिनता के कारण पृथ्वी कहलाता है और द्रवत्व के कारण जल।[2] इस प्रकार भैरव विश्व में व्याप्त होकर साक्षात् व्यवस्थित है।[3] "देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र" नामक रचना में भी जीव शरीर में देवताओं के समूह की बात विशद रूप से वर्णित है।

मनुष्य शरीर में जो जीवनी शक्ति प्राण है, वह आत्मा का प्रतिरूप है। उसी प्रकार अन्य देवता भी विभिन्न स्थानों में निवास करते हैं। अपान में वटुक देवता, बुद्धि में ब्रह्माणी देवी, अहम् (अहंकार) में शाम्भवी देवी, मन में कुमारी देवी, वाक् में वैष्णवी देवी, चक्षु में इन्द्राणी देवी, जिह्वा में चामुण्डा देवी, घ्राणेन्द्रिय में महालक्ष्मी का वास है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में विभिन्न देवियों (शक्तियों) का वास बतलाया गया है।

उसी प्रकार निगम शास्त्रों में भी ब्रह्म से ही सृष्टि, स्थिति और संहार का क्रम माना गया है। वही सृष्टि की उत्पत्ति करता और अपने तप के बल से स्थित रखता है। अन्त में अपनी इच्छा से संहार करता है। ब्रह्म ही समस्त ब्रह्माण्डों, समस्त सृष्टियों और समस्त व्यक्त–अव्यक्त

---

1. "विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहनिग्रही।" — त्रिशिरोमत, प्र.६०, पृ.82
2. "सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
   पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्।" — तदेव
3. "त्रिशिरोभैरवः साक्षाव्द्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।" — तदेव

अस्तित्वों को धारण करता है। ये सब उसी में माला के धागे में मोतियों की तरह विद्यमान रहते हैं। उसी की शक्ति से गतिमान है। ईश्वर की ही एक अनन्त शक्तिशाली चैतन्यधारा इस सृष्टि में पदार्थों में अहं, बुद्धि और मन की सूक्ष्म भौतिक रचना करती है और स्थूल तत्वों से शरीरों को बनाती है।

समस्त प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं। उस ब्रह्म की एक धारा, जो स्वयं अनन्त है, उसकी दूसरी धारा जड़रूप है। दोनों के अंश अर्थात् जब चैतन्य अंश का जड़ अंश से संयोग होता है, तो जड़ चेतन की ग्रन्थि बन जाती है। यही जीव है — जिसमें क्रिया, चेतनता, सजीवता और जीवन है। ईश्वर अविनाशी है और उसका पदार्थ रूप भी अविनाशी है तथा उनकी ग्रन्थि से उत्पन्न हुआ जीव भी अविनाशी है।

ऐतरेय उपनिषद् में इसी अविनाशी जीव के शरीर में विभिन्न देवताओं का वास बतलाया गया है। जैसे वाक् इन्द्रिय में अग्निदेव, प्राणेन्द्रिय में वायु देवता, चक्षु इन्द्रिय में सूर्यदेव, मन में चन्द्रमा देवता आदि निवास करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम और निगम परम्परा में एक शक्ति विश्व में व्याप्त होकर अपना लीला कार्य कर रही है। वही आगम शास्त्र में शिव और निगम में ब्रह्म के नाम से जाना जाता है। वही आगम और निगम शास्त्रों के अनुसार सृष्टि, स्थिति और संहार कार्य करने में सक्षम है।

जीव उसी का अंश है। उसकी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि और सर्वोत्तम कृति है। इसका स्पष्ट कारण है इस योनि में जीवात्मा को इच्छा, कल्पना, कामना विचार उत्पन्न करने एवं तदनुसार

कार्य कर सकने की क्षमता। जीव की बुद्धिरूपी शक्ति इस को आत्मज्ञान या ईश्वर दर्शन के योग्य बना देती है। इसलिए अन्य योनियों से मानव योनि को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

आगम शास्त्र में मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न देवियों और निगम में देवताओं का निवास कहा गया है। आगम में जिन्हें देवियां (शक्तियां) कहा गया है, निगम में उन्हें देवताओं के नाम से जानी जाती है। आगम में वाक् इन्द्रिय में वैष्णवी देवी का वास है, वहीं निगम में अग्निदेवता के नाम से प्रतिष्ठित है। आगम में चक्षु इन्द्रिय में इन्द्राणी देवी का निवास है, वही निगम में सूर्यदेवता के नाम से जाना जाता है। आगम में मन में कुमारी देवी का वास माना गया है, वही निगम में चन्द्र देवता के नाम से प्रसिद्ध है।

'देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र' और ऐतरेयोपनिषद् का विश्लेषण करने से पता चलता है कि शरीर उस महान् शक्ति की अनूठी देन है, जिसमें परमात्मा ने स्वयं अपना निवास किया है। साथ–साथ विभिन्न अंगों में देवताओं का वास नियत किया है। इन दोनों ग्रन्थों के माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य का शरीर हड्डी–मांस और रुधिर आदि का ढांचा मात्र नहीं है, अपितु यह शरीर सभी देवताओं का सुन्दर निवास स्थान है। जो मनुष्य इस प्रकार सभी देहों में आत्मतत्त्व की अनुभूति कर लेते हैं, सभी प्रकार के दुःखों, क्लेशों, चिन्ताओं आदि से मुक्ति मिल जाती है। परमानन्दरूप परमसुख की प्राप्ति हो जाती है। वे साक्षात् शिव अथवा ब्रह्मरूप हो जाते हैं। अतः मानव एक है, उसकी कोई वर्ण या जाति नहीं होती। आज के युग में मनुष्य संकीर्ण सीमाओं में बंध कर जाति–पाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि के नाम पर झगड़ा कर रहा है। परन्तु हम समस्त जीव (प्राणिमात्र) सभी उसी अनन्त चैतन्यमयी परम सत्ता

के अंश हैं। बूंद इकाई से एक है, समष्टि में सागर है – परमात्मा है। सब पूर्ण और समान है। एक हैं, समतुल्य है। कोई श्रेष्ठ नहीं, कम नहीं है। नीचा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आज जाति–प्रथा का जो रूप है, वह भारतीय आत्मा के विरुद्ध है, गलत है, सामाजिक विकृति के कारण है, जो स्वीकार्य नहीं है। उसका आधार ही शास्त्रों के विरुद्ध है।

ईश्वर की सृष्टि में कोई वर्ण या जाति नहीं बनी थी। सभी प्राणी उसी परमसत्ता के प्रतिरूप है। जो ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह प्राणिमात्र में एक ही चैतन्यरूप को देखता है, वह पेड़, वनस्पति, मक्खी, मच्छर, कुत्ता, गाय, पशु–पक्षी और मानव में एक ही चैतन्य का अनुभव करता है। अतः सब समान है। सब उस शिव का रूप है। जीवमात्र एक है। एक प्रभु की सन्तान या अंश है, कोई बड़ा छोटा नहीं, कोई ऊंचा–नीचा नहीं। यहां कोई भेदभाव नहीं।

आज जितने भी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर झगड़े हो रहे हैं, उनके होने का मूल कारण अज्ञान है। अपने को दूसरे से भिन्न–भिन्न समझना है। जबकि हम एक ही परमपिता की सन्तान हैं। सभी में एक ही तत्त्व खचाखच भरा हुआ है। आत्मज्ञान अपना ज्ञान है। यह जीवमात्र के जीवन का ज्ञान है। यह अनन्त ब्रह्माण्ड में एक सूत्रता, एकात्मता, आत्मीयता और अपनत्व दिखाता है। सबको ही अपना समझता है।

ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
1.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
2.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1921
3.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1918
4.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा विवृति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1938
5.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
6.	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
7.	कश्मीर शैव दर्शन	डा. वलजिन्नाथ पण्डित	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ	प्र.सं. 1913
8.	काव्यालङ्कारसार	मुकुल भट्ट	चौखम्बा विद्या भवन	प्र.सं. 1940
9.	काव्यप्रकाश	मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी	1960
10.	केनोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
11.	क्रम स्तोत्र	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1960
12.	गुरूनाथ परामर्श	मधुराजयोगी	रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन विभाग, जम्मू कश्मीर	सं. 1960
13.	छान्दग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
14.	तन्त्रालोक विवेक	जयरथ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1980
15.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1963

16.	तन्त्रभट्टधानिका	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1947
17.	तैत्तिरीयोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
18.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	मोतीलाल वाराणसी दास	प्र.सं. 1984
19.	परमार्थपंचदशिका	अभिनवगुप्त	मोतीलाल वाराणसी दास	प्र.सं. 1969
20.	'परात्रिशिंकाविवरण'	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर	प्र.सं. 1931 प्र.सं. 1931
21.	प्रतिभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	चौखम्बा विद्या भवन पो.बा. नं. 69 वाराणसी	
22.	प्रश्नोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
23.	विज्ञान भैरवोद्योत	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर	प्र.सं. 1931
24.	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी	1973
25.	बोधपंचदशिका	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1948
26.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
27.	बृहदकथामंजरी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं.
28.	भगवद्गीता	वेद व्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर	1970
29.	भगवद्गीतार्थ संग्रह	अभिनवगुप्त	कश्मीर प्रताम स्टैम प्रैस, श्रीनगर	प्र.सं. 1933
30.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरिएण्टल पो.बा. नं. 8	1976
31.	भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्ण	गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद	प्र.सं. 1919

32.	भारतीय दर्शन	रामकृष्ण आचार्य	विनोद पुस्तक मन्दिर रांगेय राघव मार्ग आगरा–2	प्र.सं. 1966
33.	माण्डूक्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
34.	मुण्डकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
35.	मुक्तिकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
36.	मालिनीविजयतन्त्र	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1921
37.	रहस्यापंचदशिका	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1970
38.	राजतरंगिणी	कल्हण	चौखम्बा विद्या भवन पो.बा. नं. 69, वाराणसी	प्र.सं. 1970
39.	श्वेताश्वतरोपनिशद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
40.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	मोतीलाल वाराणसी	1981
41.	स्पन्दकारिका	भटटकल्लट	भोतीलाल वाराणसी दिल्ली, पटना	1981